चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य

भगवद्गीता

सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन

भगवद्गीता

हिन्दू धर्म के सिद्धान्तों और
अनुशासन के सरल विवेचन

लेखक
चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य

अनुवादक
सीताचरण दीक्षित

१९७९

प्रकाशक

यशपाल जैन

मंत्री, सस्ता साहित्य मण्डल

नई दिल्ली

●

दूसरा संस्करण : १९७९

मूल्य : तीन रुपये

●

मुद्रक

अंकित प्रिंटिंग प्रेस,

रोहतास नगर, शाहदरा,

दिल्ली-३२

प्रकाशकीय

'मंडल' से राजाजी की कई पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। उन सबको पाठकों ने बहुत पसंद किया है। उनमें 'महाभारत कथा' और 'दशरथ-नंदन श्रीराम' को तो इतनी लोकप्रियता प्राप्त हुई है कि उनकी मांग बराबर बनी रहती है और एक संस्करण के समाप्त होते ही नया संस्करण निकालना आवश्यक हो जाता है।

विद्वान लेखक के सम्पूर्ण साहित्य में प्रस्तुत पुस्तक अपना विशेष महत्व रखती है। पाठक जानते हैं कि गीता रत्नों की खान है। उसमें जो जितनी गहरी डुबकी लगाता है, उतने ही मूल्यवान रत्न उसके हाथ पड़ते हैं। यही कारण है कि बहुत-से महापुरुषों ने उसके भाष्य किये हैं।

यह पुस्तक मुख्यत: विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियों के लिए हिन्दू धर्म के हस्तामलक के रूप में लिखी गई है। भगवद्‌गीता की गणना हिन्दू धर्म के आदर्श, उद्देश्य और अनुशासन का प्रतिपादन करनेवाले श्रेष्ठतम प्रामाणिक ग्रंथों में है। इस पुस्तक में गीता की सामग्री को भिन्न-भिन्न अध्यायों में इस प्रकार विभाजित किया गया है कि उसमें पुनरावृत्ति नहीं रह पाई। भक्तिभाव से अध्ययन करने के लिए पुनरावृत्ति असु-विधाजनक नहीं होती, तथापि विश्लेषणात्मक दृष्टि के आधुनिक विद्या-र्थियों के लिए उसका संक्षेप कर दिया जाना सम्भवत: सहायक ही सिद्ध होगा। इस पुस्तक के अध्ययन से प्रत्येक विद्यार्थी को—वह किसी भी धर्म का अनुयायी क्यों न हो—हिंदू धर्म के मूल तत्त्वों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जायगा। धार्मिक मनोवृत्ति के हिन्दू विद्यार्थियों को तो इससे मूल ग्रंथ के भक्तिमय तथा ज्ञानपूर्ण नित्य-पाठ की प्रेरणा भी मिलेगी।

लेखक ने पुस्तक को सहज, सुन्दर और सुबोध शैली में लिखा है, जो एकदम उनकी अपनी है और जिससे धर्म तथा दर्शन के साथ संलग्न क्लिष्टता का पूर्ण निवारण हो गया है।

ऐसी पुस्तकें हर शिक्षा-संस्था में अनिवार्य रूप से पढ़ाई जानी चाहिए। वे स्वस्थ दृष्टि प्रदान करती हैं और जीवन-यात्रा को अधिक दृढ़ता और अधिक आनंद से सम्पन्न करने की प्रेरणा देती हैं।

हम आशा करते हैं कि इस पुस्तक का शिक्षा-संस्थाओं में भरपूर उपयोग होगा, वैसे इसे जो भी पढ़ेगा, उसी को लाभ पहुंचेगा।

यह पुस्तक बहुत वर्ष पहले हिन्दुस्तान टाइम्स, नई दिल्ली, द्वारा प्रकाशित हुई थी। इसे 'मंडल' से निकालने की अनुमति देने के लिए हम राजाजी की सुपुत्री श्रीमती लक्ष्मी देवदास गांधी के हृदय से आभारी हैं।

—मंत्री

भूमिका

वहुत खेद की बात है कि भारतीय विश्वविद्यालयों के युवक-युवतियों को गीता ग्रार हिन्दू धर्म-सिद्धान्तों का ज्ञान यूरोपीय विश्व-विद्यालयों के छात्रों के बाइबिल तथा ईसाई धर्म-सिद्धान्तों के ज्ञान की अपेक्षा वहुत कम है। हिन्दू धर्म में हमें ऐसे विचारों का उत्तराधिकार प्राप्त है, जो योग्यतम विचारकों के मतानुसार, इस दिशा में प्रयुक्त बुद्धि और कल्पना-शक्ति के सर्वश्रेष्ठ प्रयत्नों से विकसित हुए हैं। यदि हमारे दर्शन-शास्त्र का उत्तराधिकार किसी पाश्चात्य राष्ट्र के युवक-युवतियों को प्राप्त हुआ होता तो वह उनके लिए साम्राज्य-प्राप्ति के समान गौरव की वस्तु होता।

यह छोटी-सी पुस्तक मुख्यतः विद्यार्थियों के उपयोग के लिए लिखी गई है। यदि इन पृष्ठों को पढ़ते समय विद्यार्थियों को मूल अथवा टीका में कोई ऐसे प्रसंग मिलें, जो संतोषजनक न हों या अस्पष्ट अथवा मतभेद उत्पन्न करने वाले मालूम होते हों तो उन्हें सहपाठियों से चर्चा करनी चाहिए या विद्वानों से समझना चाहिए। जिस महान धार्मिक दर्शन के लिए भारत समस्त सभ्य संसार में प्रख्यात है, उसके सिद्धान्तों का अच्छा ज्ञान न रखनेवाला कोई भारतीय यथेष्ट शिक्षित होने का दावा नहीं कर सकता।

इस छोटी-सी पुस्तक को लिखने का प्रयत्न प्राचीन कहानी के उस पिता के प्रयत्न के समान है, जिसने अपने पुत्रों को गड़ा हुआ धन निकालने के लिए अपना कौटुम्बिक बगीचा खोदने की प्रेरणा दी थी। धन वास्तव में मिला, परन्तु वह बर्तन में बंद, भूमि में गड़ी हुई स्वर्ण-मुद्राओं के रूप में नहीं था, वरन् परिश्रम के पुरस्कार के रूप में था—भूमि की खुदाई के फलस्वरूप बगीचे में वहुत अच्छी उपज हुई। पुस्तक के लेखक ने स्वयं जो कुछ लिखा है, उसमें कुछ नहीं है; परन्तु उससे पाठकों को 'खोदने' की प्रेरणा मिली तो गीता, जो हमारी मूल्यवान पैतृक सम्पत्ति है, प्रयत्नशील आत्मा के लिए विपुल उपज प्रदान करेगी।

अनुक्रम

भगवद्गीता

विषय-प्रवेश

गीता हिन्दू दर्शन और नीतिशास्त्र के सबसे प्रामाणिक ग्रन्थों में से एक है और सभी सम्प्रदायों के हिन्दुओं ने उसे इस रूप में स्वीकार किया है। हमारे युवक और युवतियां यदि उसके चुने हुए श्लोकों का भी अध्ययन कर लें और उनका यदि मनन करें तो वे अपने पूर्वजों के धर्म को समझ सकेंगे। हमने जिस उदात्त दर्शन, कला, साहित्य तथा सभ्यता को उत्तराधिकार में प्राप्त किया है, उस सबका विकास हमारे पूर्वजों के धर्म के आधार पर ही हुआ है।

अंग्रेजी और भारतीय भाषाओं में गीता के अनेक उत्तम अनुवाद मौजूद हैं। विद्वानों के लिए श्री शंकराचार्य तथा अन्य धर्माचार्यों के भाष्य ज्ञान की खान हैं, जिनके सामने आधुनिक टीकाएं नितान्त क्षुद्र मालूम होती हैं। यह पुस्तक उन विद्यार्थियों के लिए लिखी गई है, जो समय और मानसिक तैयारी के अभाव में मूल गीता का अध्ययन उपर्युक्त महान भाष्यों के साथ नहीं कर सकते।

गीता महाभारत का एक प्रकरण है। इसका प्रारंभ उस वर्णन से होता है जबकि अर्जुन दोनों पक्षों के लोगों को एक-दूसरे के वध के लिए युद्ध-भूमि पर खड़े देखकर उद्विग्न हो उठा था। इस प्रसंग के साथ कृष्णार्जुन-संवाद के रूप में हिन्दू-धर्म की व्याख्या की संगति बैठाई गई है। कृष्ण सम्पूर्ण गीता में स्वयं परमात्मा के रूप में बात करते हैं।

उपर्युक्त अनुच्छेद में जो कुछ कहा गया है, उसके और पुरातन कवि की साहसपूर्ण तथा अनुपम कल्पना से उत्पन्न पीठ-भूमिका के सौन्दर्य

तथा उपयुक्तता के होते हुए भी, विद्यार्थियों को ध्यान रखना चाहिए कि गीता हिन्दू धर्मग्रंथ के रूप में महाभारत से प्रथक है। यह उचित ही था कि पुराणप्रिय हिन्दुओं के भाष्य में इस प्रसंग का महत्त्व क्रमशः कम होता गया और अन्त में प्रायः विलीन ही हो गया। कुरुक्षेत्र के युद्ध को अक्षरशः स्वीकार करने और उसके आधार पर ही गीता का अर्थ लगाने से विद्यार्थी गीता को सही रूप में न समझ सकेंगे, उलटे उनके भ्रम में पड़ जाने की संभावना है। यह सच है कि गीता की शिक्षा समस्त विश्व पर लागू होती है, इसलिए वह महाभारत के प्रसंग के लिए भी उपयुक्त है और उससे अर्जुन की समस्याओं तथा संशयों का हल हो जाना स्वाभाविक है; परन्तु यदि हम इस विशेष दृश्य के ही वशीभूत हो गये और विशेष को लेकर साधारण का अर्थ निकालने लगे तो उस शिक्षा को ठीक तरह से न समझ पायेंगे। संस्कृत साहित्य में महान ग्रंथों को इस प्रकार की पीठ-भूमिका से प्रारम्भ करने की साधारण पद्धति है। महाभारत में भी यदि ऐसा न किया गया होता तो भगवद्गीता को हिंसा-प्रहार के दोष से मुक्त करने के लिए महाभारत की सम्पूर्ण कथा का एक लम्बा रूपक तैयार करना पड़ता और यह काम बहुत कठिन हो जाता। सनातन धर्म के एक ग्रंथ के रूप में गीता का अध्ययन करते समय हमें युद्ध-भूमि का दृश्य भुला देना चाहिए।

गीता में अठारह अध्याय और कुल सात सौ श्लोक हैं। आगे के पृष्ठों में २२६ श्लोक उद्धृत किये गए हैं। भगवद्गीता को साधारण रूप में समझ लेने के लिए इन श्लोकों का अध्ययन पर्याप्त होगा।

उपनिषदों में पहले से ही जो शिक्षा प्रस्तुत है, उससे अधिक भगवद्-गीता में कुछ नहीं है। उसमें प्राचीन शिक्षा का संश्लेषण मात्र है। इस पुस्तक का उद्देश्य गीता का कोई नया भाष्य करना नहीं है। अतएव किसी पाठक को यह आशा नहीं करनी चाहिए कि आगे के पृष्ठों में पुरानी टीकाओं का खंडन अथवा नये भाष्य का आविष्कार दृष्टिगत होगा। इस छोटी-सी पुस्तिका का उद्देश्य केवल गीता के विषय को सरल रूप और छोटी-सी परिधि में प्रस्तुत करना है, ताकि दूसरे विषयों के

अध्ययन में व्यस्त आधुनिक विद्यार्थी उसमें प्रतिपादित श्रद्धा, अनुशासन और आदर्शों को समझ सकें, जिनसे कि हमारे पूर्वजों का जीवन-पथ प्रकाशित हुआ और जिन्हें सनातन धर्म अथवा हिन्दू धर्म के नाम से पुकारा गया है।

प्रकृति के नियमों तथा विज्ञान के चमत्कारों का अल्प ज्ञान कुछ लोगों के स्वभावों पर मदिरा का-सा काम करता है। यह परिणाम उस समय विशेष रूप से होता है, जब कि ज्ञान की प्राप्ति अप्रत्यक्ष रूप से की जाती है और वह वैयक्तिक प्रयत्न तथा गवेषणा के संस्कारी प्रभाव से वंचित रहता है। ऐसी स्थिति में उन लोगों का अनुपात-ज्ञान भ्रंष्ट हो जाता है। उनके लिए अज्ञात न केवल अज्ञात ही रहता है, वरन् सर्वथा नष्ट हो जाता है। धार्मिक ग्रंथों को वे प्राचीन काल की मूर्खता मानने लगते हैं; कुछ लोग तो इससे भी आगे बढ़कर उन्हें पाखंड के उपकरण और उसके व्यवहार के लिए समझ-बूझकर तैयार की हुई युक्तियां बताने लगते हैं; परन्तु जिन्होंने भौतिक विज्ञान का गंभीरतर अध्ययन करने का प्रयत्न किया है और, इस प्रकार, अपनी अनुपात-बुद्धि तथा निर्णय-शक्ति को कायम रखने के लिए पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर लिया है, वे जानते हैं कि अज्ञात ज्ञात से कहीं अधिक विशाल है। अधिकाधिक समय बीतने के साथ मानव-बुद्धि उसके अधिकाधिक क्षेत्र को अपनी परिधि के अन्दर ला सकती है, फिर भी अवशेष रहता ही है। उसकी न तो उपेक्षा की जा सकती है और न उसे मानव-बुद्धि की सीमा के अन्तर्गत ही लाया जा सकता है। सच्चे वैज्ञानिक न केवल अपनी नम्रता कायम रखते हैं, वरन् प्रकृति के कुछ गुह्य रहस्यों के ज्ञान के कारण ही, उसका और भी अधिक नम्रता तथा भक्तिभाव से मनन करते हैं, जो कि सदैव मानवीय विश्लेषण की परिधि के परे रहने वाला है।

सब कारणों के कारण, सब नियमों के नियम को मानवीय तर्क अथवा गवेषणा के उच्चतम प्रयत्नों से भी समझा नहीं जा सकता। मानवीय तर्कशक्ति इतनी पूर्ण और समंजस है कि उसमें मर्यादा की

अनुभूति के लिए स्थान ही नहीं; फिर भी, अंश कितना भी पूर्ण क्यों न हो, वह पूर्ण को परिव्याप्त नहीं कर सकता। पूंछ को मुंह में दबाये हुए सांप का प्रतीक—मानो वह अपने सम्पूर्ण शरीर को निगल रहा हो—सम्पूर्ण को परिव्याप्त करने के लिए प्रयत्नशील मानवीय मन की मर्यादा का सुन्दर द्योतक है। किसी मंच पर खड़े होकर उसे उठा भी लेना दानव के लिए भी संभव नहीं है। जो परम कारण हमारा आधार है और जिस पर हमारे मन की एक-एक गतिविधि अवलंबित है, उसे परिव्याप्त करने अथवा उसका मापन करने के लिए हम उससे तटस्थ नहीं हो सकते।

मनुष्य के ज्ञान की यह मर्यादा वैज्ञानिक तथा दार्शनिक गवेषणाओं की सुपरिचित सीमा है। किसी भी सत्य का अवगाहन कीजिए, किसी भी प्रपंच की गवेषणा कीजिए या किसी भी विशिष्टता का पर्याप्त गहराई तक परीक्षण कीजिए, एक सीमा के बाद अज्ञात का शिलाखंड प्राप्त हो जाता है और उसके आगे उन्नति रुक जाती है। इसे यों भी कहा जा सकता है कि प्रत्येक विषय में हमारी टक्कर ईश्वर से हो जाती है। वह अज्ञेय, सर्वव्यापी है। ज्ञात और ज्ञेय अमर्याद-रहस्य क्षेत्र के क्षुद्र स्तर-मात्र हैं। यही मर्यादा-रहित अज्ञात धर्म, धर्मग्रंथों और ऋषि-मुनियों की वाणी तथा कार्यों का विषय होता है। इनकी पद्धति वह नहीं है, जो वस्तु के संबंध में विज्ञान की होती है। वह भिन्न है और वही एकमात्र संभव पद्धति भी है।

प्रश्न किया जा सकता है कि अज्ञात की चिन्ता क्यों की जाय? उसका क्या उपयोग है? उत्तर यह है कि वास्तविक की उपेक्षा करना मूर्खता है। अज्ञात इसलिए कम वास्तविक नहीं हो जाता कि वह ज्ञात नहीं है। हम उसके बारे में इतना जानते हैं कि उसका अस्तित्व है और सारी सृष्टि से—जिसमें हम भी सम्मिलित हैं—उसका घनिष्ठ संबंध है। फिर हम उसकी उपेक्षा कैसे कर सकते हैं? हम जानते हैं कि मानवीय दृष्टि के सामने आनेवाली शून्यता वास्तव में शून्यता नहीं है। वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वास्तविकता से परिपूर्ण है। यह बात भिन्न

है कि हम उसमें गहरे नहीं उतर सकते, उसका विश्लेषण नहीं कर सकते या उसे समझ नहीं पाते।

क्या भौतिक जगत् में गणितशास्त्री ऐसी संख्याओं से काम नहीं लेता, जो व्याख्या के लिए बहुत छोटी या बहुत बड़ी होती हैं? क्या वह ऐसी अभिव्यक्तियों का प्रयोग नहीं करता, जो मनुष्य की बुद्धि के लिए पूर्णतः अवास्तविक होती हैं? अपरिमिति, शून्य और असंख्यता की गणित-शास्त्र में उपेक्षा नहीं की जाती, बल्कि इनसे विज्ञान के विकास में बहुत सहायता मिलती है और उस विज्ञान की सहायता से इंजीनियर और यंत्रशास्त्री सच्चे और उपयोगी निर्माण करने में समर्थ होते हैं। इस प्रकार जो हमें पहेली जैसा अथवा असीम दिखलाई पड़ता है, वह, हमारे व्यावहारिक जीवन के लिए भी असत्य या निरुपयोगी नहीं है। हो सकता है कि गीता, उपनिषदों तथा संसार के अन्य धर्मग्रंथों में जो कुछ कहा गया है वह हमें बहुधा उतना स्पष्ट न मालूम होता हो, जितना हम चाहते हैं। भौतिक विज्ञान में भी व्याख्या प्रमाणों के समान संतोषजनक नहीं होती। यह अनिवार्य है, क्योंकि वस्तु बिलकुल भिन्न है, अतएव उसके अध्ययन करने की दृष्टि और प्रयोगपद्धति में भी अन्तर होना आवश्यक है। मनुष्य के तर्क की परिधि में आनेवाले विषयों की व्याख्या की जा सकती है और उन्हें सिद्ध भी किया जा सकता है; परन्तु उसके परे के विषयों को समझने के लिए श्रद्धा और मनन की आवश्य-कता है। धर्मग्रंथों को श्रद्धापूर्ण मनन में सहायता पहुँचाने वाले ग्रंथ माना जा सकता है। श्रद्धापूर्ण मनन ही एकमात्र उपाय है, जिससे कि अज्ञात सत्य की झलक प्राप्त की जा सकती है। पहले जो परस्पर विरोधी वाक्यांशों की निरर्थक ध्वनि-सी मालूम होती है वही मन और कर्मों को शुद्ध कर लेने से तथा ध्यान और प्रार्थना के बल से ठोस और अर्थ-गर्भित बन जाता है। प्रच्छन्न पर एक नया और विलक्षण प्रकाश पड़ता है, जिससे हम देखने लगते हैं—भले ही हमारा देखना धुंधला क्यों न हो और भले ही हम उतना भी दूसरों को बताने में असमर्थ क्यों न हों। इसी प्रकार हमारे पूर्वजों ने देखा और इसी प्रकार फिर से हम भी देखेंगे।

किसी भी धर्म को समझने के लिए भक्ति-भावना आवश्यक है। इस शंका से श्रीगणेश करना नितांत मूर्खता है कि किसी देश के धर्म-संस्थापक या धर्माचार्य अपने या किसी समाज विशेष के लाभ की किसी योजना में अभिरुचि रखनेवाले कुशल प्रवंचक थे और शेष लोग इन प्रवंचकों के धोखे में आकर इन्हें अमर्याद और प्रम की भावना से देखने लगे। प्राचीनकाल के लोग, जिनसे हमने अपनी सब बुद्धि उत्तराधिकार में पाई है, उतने ही व्यावहारिक थे, जितने हम हैं; वे मनुष्यों और पदार्थों-संबंधी ज्ञान प्राप्त करने में उतना ही रस लेते थे, जितना कि हम लेते हैं, और यह भी कहना अनुचित न होगा कि उतने ही शंकाशील भी थे, जितने हम हैं। संभवतः उनमें बौद्धिक शक्ति भी उतनी ही थी, जितनी हममें है, परन्तु उनके पास मनुष्यों और पदार्थों की परीक्षा करने के लिए अधिक समय था, इसलिए यह विश्वास करना कि वे धोखे में आ गये या उनमें बुद्धिमान तथा पर्याप्त साहसी लोगों का अभाव था, जो उस दुष्टता को रोक सकते, पूरी तरह गलत धारणा पर चलना होगा। धर्मों ने किसी भी देश के साधारण मानव-समाज की क्रमागत पीढ़ियों की जो भक्ति प्राप्त की, वह इसलिए कि उनके संस्थापक पहले प्रत्यक्ष सम्पर्क के आधार पर और बाद को परम्परागत अनुभव के आधार पर साधु, निष्कपट और गहरा चिन्तन करने वाले महापुरुष माने गये, जो अनुसरण के योग्य थे। धर्म का अध्ययन करते समय खुफिया पुलिस की मनोवृत्ति का प्रदर्शन करना न केवल गलत है, वरन् वह उसे समझने के लिए अयोग्य भी बना देता है। निःसन्देह वैयक्तिक तथा वर्गगत हितों ने धर्म तथा अन्य संगठनों का स्वरूप बिगाड़ दिया है; परन्तु बिगड़े हुए धर्म को मूल धर्म से मिलाना और मूल में प्रवंचना का आरोप करना सत्य की खोज में अवैज्ञानिक मनोवृत्ति का द्योतक है। हमारे भारतवर्ष के ऋषि, जिन्होंने हमें महान् विचारों का उत्तराधिकार प्रदान किया है, ऋषि थे, और केवल ऋषि थे। अतएव प्राचीन धर्मग्रंथों का अध्ययन श्रद्धा-भक्ति के साथ करना चाहिए।

१ : : आत्मा

(अध्याय २—श्लोक ११-१३, १७, २०, २२, २४, २५ और ३०। अध्याय १३—श्लोक २६, ३२ और ३३)

धर्म की पहली सीढ़ी यह है कि स्थूल शरीर में अन्तर्हित आत्मा के अस्तित्व को समझ लिया जाय। दृश्य शरीर ही सम्पूर्ण वास्तविकता नहीं है। उसके अन्दर एक अदृश्य किन्तु सदा क्रियाशील गृह-स्वामी—देही—विद्यमान है। वह शरीर का स्वामी है। उसके अस्तित्व का साक्षात्कार करने पर ही हम सच्चे रूप में जीवन-यापन कर सकते हैं। इस आत्मा को मस्तिष्क के भावात्मक कार्यों से मिलाना नहीं चाहिए। यह केवल विचार, इंद्रियज्ञान, भावना, इच्छाशक्ति और विवेक नहीं है। ये सब भौतिक शरीर के कार्य हैं। आत्मा इनसे विलग और इन सबके पृष्ठ पर है। उसका स्थान शरीर का कोई अंग-विशेष नहीं है। वह समस्त शरीर और इंद्रियों में व्याप्त है। उस पर 'विस्तार' के नियमों का प्रभाव नहीं पड़ता। उसकी व्याप्ति वैसी ही है जैसे कि, भौतिक वैज्ञानिकों के कथनानुसार, आकाश समस्त स्थान और पदार्थों में समाया हुआ है। आत्मा मनुष्य के ही नहीं, वरन् प्रत्येक प्राणी और वनस्पति, प्रत्येक जीवधारी के होता है। शरीर केवल कर्मक्षेत्र अथवा 'क्षेत्र' है। उसमें आत्मा निवास करता है। वह 'क्षेत्री' अथवा 'क्षेत्रज्ञ' कहलाता है। शरीर के मर जाने पर, गाड़ या जला दिये जाने पर अथवा वन्य पशु-पक्षियों द्वारा खा डाले जाने पर आत्मा की मृत्यु नहीं होती। मृत्यु पर शोक करना मूर्खता है, क्योंकि आत्मा अमर है। मृत्यु

शरीर का निपात करती है, ठीक वैसे ही जैसे कि हम अपने कपड़े उतार देते हैं।

श्री भगवानुवाच

अशोच्यान्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः। २-११

श्री भगवान ने कहा, तू उनके लिए शोक करता है, जो शोक के योग्य नहीं हैं; परन्तु बातें ज्ञानियों की-सी करता है। ज्ञानी जन न तो मरे हुए लोगों के लिए शोक करते हैं और न जीवितों के लिए।

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥ २-१२

मैं, तू अथवा ये राजा पहले कभी नहीं थे या हममें से कोई भविष्य में कभी न होगा, ऐसा नहीं है।

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥ २-१३

जिस प्रकार देहधारी आत्मा शरीर की कुमार, युवा तथा वृद्ध अवस्था से पार होता है उसी प्रकार वह दूसरे शरीर में भी चला जाता है। बुद्धिमान लोग उसकी इस देहान्तर-प्राप्ति से विचलित नहीं होते।

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥ २-१७

जो आत्मा इस पृथ्वी के समस्त प्राणियों में व्याप्त है उसे तू अविनाशी जान। उस अविनाशी का नाश कोई नहीं कर सकता।

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ २-२०

यह आत्मा न तो कभी पैदा होता है, न मरता है। होता हुआ,

भविष्य में कभी न होनेवाला भी नहीं है। अजन्मा, नित्य शाश्वत और पुरातन, यह देह के मारे जाने पर मारा नहीं जाता।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥ २-२२

जिस प्रकार मनुष्य पुराने कपड़े उतार कर नये पहन लेता है, उसी प्रकार आत्मा भी जीर्ण शरीर त्याग कर नया धारण कर लेता है।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥ २-२४

वह छेदा, जलाया, भिगोया या सुखाया नहीं जा सकता। वह नित्य सर्वव्यापी, स्थिर, अचल और सनातन है।

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि॥ २-२५

उसे अव्यक्त, चिन्तन के परे और विकाररहित कहा गया है। उसका यह रूप जानकर तुझे शोक नहीं करना चाहिए।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि॥ २-३०

सबके शरीर में इस प्रकार रहनेवाला आत्मा नित्य और अवध्य है, इसलिए तुझे किसी प्राणी के लिए शोक नहीं करना चाहिए।

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजंगमम्।
क्षेत्र क्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ॥ १३-२६

जो भी चर-अचर प्राणी-जगत् उत्पन्न होता है, उसे तू आत्मा और शरीर के संयोग से उत्पन्न हुआ जान।

आत्मा का निवास किस स्थान पर है? क्या वह शिर में है, हृदय प्रदेश में है या और कहीं है? आत्मा सर्वव्यापी है; उसे शरीर के किसी विशेष भाग अथवा इंद्रिय में नहीं पाया जा सकता।

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥ १३-३२

जिस प्रकार सर्वव्यापी आकाश वस्तुओं में व्याप्त होने पर भी सूक्ष्म होने के कारण उनमें लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार आत्मा शरीर में सर्वत्र रहने पर भी निर्लिप्त रहता है ।

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥ १३-३३

जैसे एक ही सूर्य समस्त पृथ्वी को प्रकाशित करता है वैसे ही आत्मा सम्पूर्ण शरीर को प्रकाश देता है ।

२ : : कर्म

(अध्याय १५—श्लोक ७-६ । अध्याय १३—श्लोक १६-२१)

अब जिन श्लोकों का अध्ययन किया जायगा, उनसे हम यह जानने का प्रयत्न करेंगे कि जीवात्मा तथा परमात्मा और जीवात्मा तथा भौतिक शरीर के बीच क्या संवन्ध है। यह कहा जा सकता है कि जिस तरह जीवात्मा शरीर के अन्दर रहकर उसे प्रकाशित करता है, उसी तरह परमात्मा जीवात्मा में व्याप्त रहता है और उसे प्रकाशित करता रहता है। हम पिछले अध्याय में पढ़ चुके हैं कि जीवात्मा क्रमशः अनेक प्रकार के दृश्य रूप धारण करता है और संस्कारों के अनुसार मनुष्य, पक्षी, पशु, और वनस्पति 'बन' जाता है। इसी प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि परमात्मा भी एक ही समय में अनेक जीवात्माओं के रूप में परिणत हो जाता है। जीवात्मा को परमात्मा का अंश भी माना जा सकता है; किन्तु इस प्रकार अंश हो जाने से परमात्मा की पूर्णता पर कोई परिणाम नहीं होता। यदि जीवात्मा और परमात्मा के संबंध की और भी अधिक सूक्ष्म व्याख्या करनी हो तो हमें द्वैत, अद्वैत और विशिष्टाद्वैत मतों के विद्वतापूर्ण तर्कों का अध्ययन करना होगा। भगवद्गीता में इस प्रश्न पर विचार नहीं किया गया; परन्तु वह, उपनिषदों के समान, इन सब मतों का अधिकारी ग्रंथ अवश्य मानी जाती है। कर्म के सिद्धांत को, जिससे जीवात्मा का नियंत्रण होता है, तीनों मत स्वीकार करते हैं।

आत्मा का निवास-स्थान शरीर है, जिसमें इन्द्रियों और मन का भी समावेश है। इस शरीर-रूपी गृह का निर्माण भौतिक जगत् से हुआ है

श्रौर वही इसका श्राधार है। मृत्यु के समय, श्रथवा किसी एक शरीर से विलग होने पर, श्रात्मा श्रपने तव तक के कार्यों से विकसित चारित्र्य श्रथवा गुणों को श्रपने साथ ले जाता है, इन गुणों के ही श्राधार पर दूसरे शरीर का श्रारम्भ होता है। जिस प्रकार वायु कुंजों से सुगंध ले जाता है, उसी प्रकार श्रात्मा गुणों को सूक्ष्म रूप में एक जीवन से दूसरे जीवन में ले जाता है।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ १५-७

मेरा ही अंश जीवलोक में सनातन श्रात्मा बनता है। वह प्रकृति में स्थिर पांच इन्द्रियों श्रौर उनका नियंत्रण करनेवाले मन को श्रपनी श्रोर श्राकर्षित करता है।

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥ १५-८

श्रात्मा जब किसी शरीर का स्वामित्व ग्रहण करता श्रथवा त्यागता है तब वह इन इन्द्रियों श्रौर मन को उसी तरह श्रपने साथ ले जाता है, जैसे वायु सुगंध को एक कुंज से दूसरे कुंज में ले जाता है।

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
श्रधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ १५-९

वह कान, श्रांख, त्वचा, जीभ श्रौर नाक तथा मन का भी सहारा लेकर इन्द्रियों के विषयों का सेवन करता है।

इन्द्रिय-विषयों का यही सम्पर्क श्रौर उनके प्रति श्रासक्ति तथा श्राकर्षण श्रात्मा के साथ सूक्ष्म रूप में सम्बद्ध रहकर उसका कर्म-भार बनता है। तार्किक के दृष्टिकोण से कार्य के मूल कारण का कोई स्पष्टी-करण या सिद्धांत श्रापत्तियों श्रथवा कठिनाइयों से रहित नहीं हो सकता परन्तु, व्यक्तित्व का श्राधार सनातन श्रात्मा को मानने पर, हिन्दू कर्म-सिद्धान्त की श्रपेक्षा प्रकृति के ज्ञात नियमों के श्रधिक श्रनुकूल कोई सिद्धांत नहीं निकाला जा सकता। मनुष्य श्रपना विकास श्रपने कर्म के श्रनुसार ही करता है। विकास का यह क्रम मृत्यु से भंग नहीं होता, दूसरे जीवन में जारी रहता है। हिन्दू धर्म का यही सर्वाधिक महत्वपूर्ण

सिद्धांत शक्ति-संचय-नियम के नैतिक क्षेत्र में कार्यान्वित है। वास्तव में इन दोनों को ही एक नियम से भिन्न अंग मानना चाहिए। कर्म, मानो आध्यात्मिक जगत् में नियम का विधान है। कारण और कार्य समान महत्व के होने चाहिए। मृत्यु से शरीर का, न कि आत्मा का, नाश होता है; अतएव जहां तक आत्मा का संबंध है, कारण और कार्य का नियम मृत्यु के बाद भी कार्यान्वित होता रहता है। शरीर की मृत्यु आत्मा को उसके कर्म-जन्य ऋण से मुक्त नहीं करती। आत्मा का पुराना हिसाब दूसरे जीवन में जारी रहता है।

पानी में छोटे-से-छोटा पत्थर भी फेंका जाय तो आंदोलन उत्पन्न हो जाता है। गोल-गोल घेरे में लहरें उठकर बराबर फैलती जाती हैं, एक लहर दूसरी लहर को काट सकती है, उसमें मिल सकती है, उसे घटा या बढ़ा सकती है, परन्तु छोटे-से-छोटा आन्दोलन भी व्यर्थ नहीं हो सकता। इसी प्रकार का परिणाम हमारे सब कामों का, जिनमें विचार भी सम्मिलित हैं, होता है। मन में आया हुआ सूक्ष्मतम और गुह्यतम विचार भी विश्वव्यापी आत्मा की शान्ति भंग कर देता है और इस प्रकार उत्पन्न हुए आंदोलन को शान्त करना आवश्यक है।

दूसरों पर होनेवाले परिणाम के अतिरिक्त, और पुरस्कार अथवा दंड के प्रश्न से अलग, हम किसी सिद्धांत की मदद के बिना भी देख सकते हैं कि प्रत्येक विचार और कार्य का, चाहे वह भला हो या बुरा, हम पर तुरन्त परिणाम होता है। मन के प्रत्येक आन्दोलन का हमारे चरित्र और उसके विकास पर, हम चाहें, या न चाहें पक्का असर पड़ता है। उससे हमारे चरित्र का विकास अच्छा या बुरा होता है। यदि मैं आज कोई बुरा विचार करता हूं तो कल उसे अधिक तत्परता और आग्रह के साथ करूंगा। यही बात अच्छे विचारों के बारे में भी है। यदि मैं संयम करूं या शान्त होने का प्रयत्न करूं तो आगे के लिए यह प्रयत्न अधिक सरल और स्वयं-स्फूर्त हो जायगा। यह क्रम-विकास जारी रहता है। हिन्दू दर्शन का मत है कि मृत्यु के समय तक मनुष्य के विचार, कार्य और प्रायश्चित्त से जो भी चरित्र बन जाता है वह आत्मा से संलग्न रहता है और आत्मा की दूसरी यात्रा उसी के आधार पर प्रारम्भ होती है।

कर्म भाग्यवाद नहीं है। वह वैयक्तिक प्रयत्न को व्यर्थ करनेवाला कोई निरंकुश और बाह्य साधन नहीं है। इसके विपरीत, कर्म-सिद्धांत मनुष्य के विकास को पूर्णतः उसके ही प्रयत्नों पर छोड़ देता है और स्वयं मृत्यु भी प्रयत्न के क्रम-विकास में हस्तक्षेप नहीं करती। हम सातवें और आठवें अध्याय में कर्म के इस पहलू पर पुनः विचार करेंगे।

यह सुविज्ञात है कि माता-पिता की शारीरिक विशेषतायें और मानसिक लक्षण बच्चों में भी उतर आते हैं। यह परम्परा उस बात को स्पष्ट नहीं करती, जो कर्म के नियम से स्पष्ट होती है। परम्परा से शरीरों का रूप-विन्यास होता है, परन्तु आत्मा का नहीं। आत्मा के माता-पिता नहीं होते, उसका अस्तित्व स्वयं होता है। कोई भी आत्मा अपने योग्य किसी भी शरीर में निवास कर सकता है। जिस तरह इन्जीनियर नागरिकों के लिए एक या अनेक प्रकार के मकान बनाते हैं, जिससे नागरिक अपनी आवश्यकताओं के अनुसार उनमें चुनाव कर लें और उनमें रह सकें, उसी तरह शरीर आत्मा का निवास-स्थान है। रहनेवाला अपने मकान को सुधार या बिगाड़ सकता है। उस मकान में आनेवाला दूसरा व्यक्ति भी ऐसा ही करता है, क्योंकि यह उसकी निजी परिस्थिति के अनुकूल पड़ता है। पिता अपने पैदा होनेवाले बच्चे का शरीर बिगाड़ सकता है; परन्तु उस पुत्र के रूप में कौनसा आत्मा आनेवाला है, यह उस आत्मा के कर्मजन्य विकास की स्थिति पर निर्भर करता है। बच्चे के पैदा होने के समय मालूम होता है कि उसने अपने माता-पिता की शारीरिक और मानसिक विशेषताएं अनुहृत की है; परन्तु वास्तव में वह अपने ही पिछले जीवन के संचित गुणावगुण अनुहृत करता है और उन्हीं के कारण वह वैसे माता-पिता का बच्चा बनता है। औरस पुत्र केवल शारीरिक रूप में औरस पुत्र होता है। आत्मा की दृष्टि से औरस पुत्र भी केवल गोद में लिया हुआ पुत्र ही है। अनुहरण का नियम कर्म-नियम को समाप्त नहीं करता और न उसके कार्य में हस्तक्षेप ही करता है।

ऊपर पंद्रहवें अध्याय के श्लोक ७, ८ और ९ उद्धृत किये जा चुके हैं। निम्नलिखित श्लोक भी इस विषय में अध्ययन के योग्य हैं :

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्॥ १३-१९

प्रकृति और आत्मा दोनों को अनादि जान और यह भी जान कि विकार और गुण प्रकृति से उत्पन्न होते हैं।

कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानांभोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥ १३-२०

कारण और कार्य की उत्पत्ति प्रकृति से होती है; परन्तु उनका कारण आत्मा है और वह सुख तथा दुःख का भोग करता है।

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥ १३-२१

प्रकृति में स्थित आत्मा प्रकृति से उत्पन्न गुणों को भोगता है। इस भोग के प्रति आसक्ति ही उसके अच्छी-बुरी योनि में जन्म लेने का कारण है।

३ : : ईश्वर और प्रकृति

(अध्याय ७—श्लोक ४-१४, २५ और २७। अध्याय ९—श्लोक ४-६, ८, १० और१६-१९। अध्याय १५—श्लोक १६-१८)

जीवन कैसे व्यतीत किया जाय, इस सम्वन्ध में गीता की शिक्षा का अध्ययन हम अगले अध्याय में पुनः करेंगे। इस अध्याय में विश्व की पहेली के सम्बन्ध में हिन्दू मत पर विचार करना उपयोगी होगा। यह एक महान 'व्यक्त रहस्य' है और जब से मनुष्य ने गंभीरतया विचार करना शुरू किया, यह रहस्य बराबर उसे उलझन में डालता रहा। भविष्य में भी सदा यह उसी तरह की पहेली बना रहेगा। इस विषय पर गीता के अध्याय ७, ९ और १५ का अध्ययन आवश्यक है।

प्रकृति के सब भौतिक तत्त्वों से, जिनमें चेतन वस्तुओं के अचेतन शरीर और उनकी ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों के कार्य भी सम्मिलित हैं, विश्व का सदा-विकारी जड़-रूप बनता है। इस रूप को प्रकृति कहा जाता है। चेतन जगत् के अन्दर आत्मा अधिवास करता है। वह सब प्राणियों के अन्तःस्थल में वास करता हुआ उन्हें चेतना प्रदान करता है। इन सबके अंतःस्थल में परमात्मा है। समग्र सृष्टि में दिखलाई पड़ने-वाले विकारों को उसकी ही शक्ति समन्वित करती है। वह प्रत्येक वस्तु के अन्दर रहता है, प्रत्येक वस्तु का आधार है और प्रत्येक वस्तु को गति प्रदान करता है; परन्तु फिर भी सबसे अलग रहता है।

सृष्टि प्रकृति के नियमों के अनुसार चलती है। प्रकृति का नियम परमात्मा की इच्छा का प्रकट रूप-मात्र है। स्वयं परमामा अपने पूर्ण

रूप में दिखलाई नहीं पड़ता। उसका जो रूप दिखलाई पड़ता है, उसे हम भौतिक और नैतिक नियम कहकर संतोष कर लेते हैं और जीवन इस प्रकार चलता जाता है, मानो वह परमात्मा से पूर्णतया स्वतंत्र हो।

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ७-४

भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार मेरी प्रकृति के आठ रूप हैं।

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ ७-५

यह भौतिक प्रकृति, जिसका मैंने वर्णन किया है, मेरे निम्न कोटि के रूप का प्रकटन—अपरा प्रकृति—है। मेरी दूसरी और उच्चतर-प्रकृति—परा प्रकृति—वह जीवन-सिद्धान्त है, जिससे इस जगत् का धारण होता है।

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ ७-६

इन दोनों को भूतमात्र का उत्पत्ति-स्थान जान। समस्त विश्व की उत्पत्ति और लय का कारण मैं हूं।

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ ७-७

मुझसे श्रेष्ठ दूसरा कुछ नहीं है। धागे में मणियों के समान यह सब मुझसे पिरोया हुआ है।

प्रकृति की चराचर वस्तुओं के परमात्मा पर अवलम्बन का उदाहरण निम्नांकित चार श्लोकों में पाया जाता है :

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभाऽस्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥ ७-८

जल में रस मैं हूं; सूर्य और चन्द्र में प्रभा मैं हूं; सब वेदों में ओ३म् मैं हूं; आकाश में शब्द मैं हूं; पुरुषों में पुरुषत्व मैं हूं।

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥ ७-९

पृथ्वी में सुगन्ध, अग्नि में तेज, सब प्राणियों में जीवन और तपस्वियों में तप मैं हूं।

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धिपार्थं सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्॥ ७-१०

सब प्राणियों का सनातन बीज मुझे जान। बुद्धिमानों की बुद्धि और तेजस्वियों का तेज मैं हूं।

बलं बलवतामस्मि कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ॥ ७-११

बलवानों का काम और राग से रहित बल मैं हूं, मैं वह काम हूं, जो धर्म-विरुद्ध न होता हुआ सब प्राणियों को क्रियाशील रखता है।

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि नत्वहं तेषु ते मयि॥ ७-१२

सब सात्त्विक, राजस तथा तामस भावों को मुझसे उत्पन्न हुआ जान। वे मुझसे विकार उत्पन्न नहीं करते, परन्तु स्थित मुझमें ही हैं।

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥ ७-१३

यह सारा जगत् इन त्रिगुण भावों से मोहित है, इसलिए इनसे श्रेष्ठतर मुझ अविनाशी को नहीं पहचानता।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥ ७-१४

इस दैवी माया को, जिसे मैं चलाता हूं और जो त्रिगुणों पर आधारित है, पार करना कठिन है; परन्तु जो मेरी शरण में आते हैं, वे इसे पार कर जाते हैं।

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥ ७-२५

मैं अपनी सर्जनात्मक प्रवृत्ति—योगमाया—से ढका हुआ हूं; अतएव मुझे देखा नहीं जा सकता। यह मूढ़ जगत् मुझ अजन्मा को नहीं जानता।

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप ॥ ७-२७

इच्छा और द्वेष की परस्पर विरोधी शक्तियों के धोखे में पड़कर सारा जगत् मोहग्रस्त रहता है ।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ १५-१६

प्राणीमात्र में दो तत्व या पुरुष हैं—एक परिवर्तनशील या क्षर, दूसरा अपरिवर्तनशील या अक्षर । प्राणियों का समस्त शरीर क्षर और जीवात्मा अक्षर है ।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥ १५-१७

उत्तम तत्व अथवा पुरुष इससे भिन्न है । वह परमात्मा कहलाता है । वह अविनाशी ईश्वर तीनों लोकों में व्याप्त होकर उनका धारण करता है ।

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ १५-१८

मैं क्षर और अक्षर दोनों से ऊपर हूं; इसलिए लोक और वेद में 'परम् आत्मा' अथवा 'पुरुषोत्तम्' नाम से प्रख्यात हूं ।

यह सत्य होते हुए भी कि ईश्वर सबका भरण-पोषण करता है, हम इससे अनभिज्ञ हैं, क्योंकि हम स्वयं और हमारी सम्पूर्ण वीक्षण-शक्ति, विचार, तर्क और भावनाएं उसकी भरण-परिधि के अन्तर्गत हैं । प्रकृति के नियम ईश्वर की इच्छा हैं । हमें जो कुछ प्रत्यक्षतः अथवा अनुसंधान से दिखलाई पड़ता है, परन्तु जिसे हम सत्य अथवा प्रकृति का नियम कहते हैं, वही उसकी इच्छा का प्रकट रूप है । ईश्वर ही नियम है और नियम ही ईश्वर है । वह नियम के द्वारा शासन करता है और दिखलाई ऐसा पड़ता है, मानो नियम ही शासन करता हो, वह नहीं । दोनों भिन्न नहीं हैं, न उनमें कभी भिन्नता हो सकती है ।

निम्नलिखित दृष्टांत ईश्वर की इच्छा और प्रकृति के नियमों की

इस अभिन्नता को स्पष्ट करने में सहायक होगा।

मान लीजिये, कोई जादूगर एक तालाब की रचना करता है और अपने उसी जादू से उस तालाब में मछलियां तथा अन्य जल-जीव उत्पन्न करता है, जिनमें मर्यादित मात्रा में विवेक-बुद्धि है। मछलियों को वह पानी, तालाब अपने जीवन की सब परिस्थितियां प्राकृतिक माननी होंगी। उन्हें क्या पता कि यह सब जादूगर की इच्छा का परिणाम है और स्वयं वे भी उसकी ही इच्छा से उत्पन्न हुई हैं। यदि जादूगर पानी और मछलियां उत्पन्न न करके मिट्टी का तेल और उसमें मछलियां उत्पन करता, और यदि अंतरे दिन मिट्टी का तेल पानी में और पानी मिट्टी के तेल में परिवर्तित होता रहता, तो भी समझने वाली मछलियां इस सबको 'प्राकृतिक' ही मानतीं। उन्होंने अपने सब पर्यवेक्षणों का संश्लेपण करके अपने मन में उसे प्राकृतिक नियमों का रूप दे दिया होता। वे वास्तविक रचयिता औ र नियामक से अनभिज्ञ रहतीं। इसी प्रकार भौतिक प्रकृति के नियम ईश्वर को छिपा लेते हैं, यद्यपि वे उसकी इच्छा के प्रकट रूप-मात्र हैं। उसका शासन इतना पूर्ण है कि वह रंगभूमि पर अदृश्य होता हुआ भी नियम में सदैव विद्यमान रहता है।

ईश्वर की इच्छा जगत् की प्राकृतिक सर्जन-शक्ति और नियम के अनुल्लंघनीय शासन के रूप में निरन्तर क्रियाशील रहती है। उसके इस पहले रूप को सातवें अध्याय के पचीसवें श्लोक में 'योगमाया' और दूसरे को नवम अध्याय के पांचवें श्लोक में 'योगम्-ऐश्वरम्' कहा गया है। ईश्वर ही जीवन के समस्त दृश्य अंगों और जटिलताओं में आद्योपांत प्रवृत्त है।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥ ९-४

यह सम्पूर्ण जगत् मेरे अव्यक्त स्वरूप से व्याप्त है, सब भूत मुझमें स्थित हैं, मैं उनमें स्थित नहीं हूं।

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममाऽऽत्मा भूतभावनः॥ ९-५

तथापि, प्राणी मुझमें नहीं हैं—ऐसा भी कहा जा सकता है। मेरा योगवल तू देख। मैं सब भूतों का मूल और आधार होता हुआ भी उनमें स्थित नहीं हूं।

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्॥ ९-८

अपनी प्रकृति के द्वारा मैं भूत-समुदाय को वारंवार उत्पन्न करता हूं और उसे प्रकृति पर अवलम्बित रखता हूं।

मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनाऽनेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥ ९-१०

मेरी अध्यक्षता में प्रकृति चराचर जगत् को उत्पन्न करती है और जगत्-चक्र को घूमता रखती है।

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाऽहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्॥ ९-१६

यज्ञ का संकल्प मैं हूं, यज्ञ मैं हूं, यज्ञ द्वारा पितरों का आधार मैं हूं, यज्ञ की वनस्पति मैं हूं, मंत्र मैं हूं, आहुति मैं हूं, अग्नि मैं हूं और हवन-द्रव्य मैं हूं।

पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक् साम यजुरेव च॥ ९-१७

इस जगत् का पिता, माता, धारण करनेवाला और पितामह मैं हूं। जानने योग्य पवित्र मैं, ओंकार मैं और ऋग्वेद, सामवेद तथा यजुर्वेद भी मैं ही हूं।

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥ ९-१८

गति, पोषक, प्रभु, साक्षी, निवास, आश्रय, हितैषी, उत्पत्ति, नाश, स्थिति, भंडार और अव्यय बीज भी मैं ही हूं।

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन॥ ९-१९

धूप मैं देता हूं, वर्षा को मैं ही रोक रखता और बरसने देता हूं। मृत्यु मैं हूं और सत् तथा असत् भी मैं ही हूं।

निम्नलिखित श्लोक अपरिवर्तनीय नियम की सदा वर्तमान मर्यादा का परिचायक है, यद्यपि उस मर्यादा के अन्तर्गत प्राणी अपने कर्मों के लिए स्वतंत्र हैं।

यथाऽऽकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय॥ ९-६

जैसे सर्वत्र विचरती हुई महान् वायु आकाश में नित्य स्थित है, वैसे ही सब प्राणी मुझ पर अवलम्बित हैं, ऐसा जान।

४ : : विहित कर्म

(अध्याय २—श्लोक ४७, ४८। अध्याय ३—श्लोक ३-९, २०, २१, २५-२९, ३३। अध्याय ४—श्लोक १६, १८, १९, २२, ३१-३३, ३७, ३८, ४१, ४२। अध्याय ५—श्लोक ४, ७, ११। अध्याय ६—श्लोक १, २। अध्याय १८—श्लोक २, ७, ९, ११, ५६, ५७)।

अब हम फिर से भगवद्गीता की नैतिक शिक्षा के अध्ययन पर आयेंगे। भूतकाल के प्रति आदर और पुराणप्रेम हिन्दू विचार-धारा की विशेषता है। इसे अप्रगतिशील कट्टरता समझने की गलती नहीं करनी चाहिए। हिन्दू-धर्म में पुराण-प्रेम के होते हुए भी, उससे अधिक सहनशीलता, विचार-स्वातंत्र्य या सत्य के प्रति वैज्ञानिक आदर किसी दूसरे धर्म में नहीं है। हिन्दू धर्म अन्य धर्मों के समान ही बढ़ा और विकसित हुआ है। उसमें सदैव विविध प्रकार की अत्यन्त साहसपूर्ण कल्पनाएँ प्रकट की गई हैं। हिन्दुओं के विभिन्न धर्म-ग्रंथों में हिन्दू धर्माचार्यों के दर्शन के अनुसार सत्य के विविध पहलुओं पर जोर दिया गया है। गीता में न केवल हिन्दू धर्म के अधिक प्राचीन पहलू कर्मकाण्ड पर विश्वास के, वरन् आत्म-संयम-मात्र पर आधारित समस्त जीवन के भी नीतिशास्त्र का विकास पहले से ही दिखलाई पड़ता है।

गीता में जोर दिया गया है कि जगत् का व्यापार चलता ही रहना चाहिए। साधु पुरुष अपने ऊपर आये हुए और अपनी सामाजिक स्थिति से सम्बन्ध रखनेवाले सब काम बराबर करता है। बाहरी रूप में वह दूसरों के समान ही काम करता है, परन्तु अन्दर अलिप्त रहता है। वह प्रत्येक कार्य निःस्वार्थभाव से करता है और सफलता तथा

असफलता, सुख तथा दु:ख, आनन्द तथा अनुताप में अपने मन की समता कायम रखता है। इस प्रकार शुद्ध होकर वह निरन्तर ध्यान, प्रार्थना और भक्ति के द्वारा अधिक प्रगति करने का पात्र होता है और अन्ततः "अपने आपको सब वस्तुओं में और सब वस्तुओं को ईश्वर में" देखता है। सांसारिक कामों के बीच यही समर्पित जीवन योग कहलाता है।

विहित कर्म में ही सच्चा त्याग है। त्याग कर्म का नहीं, वरन् स्वार्थपरता का होना चाहिए। हमें अपनी प्रवृत्तियों को स्वार्थपूर्ण उद्देश्य के बंधन से मुक्त करना चाहिए। कर्म कर्त्तव्य की भावना से करना चाहिए और उसके परिणाम से मन को विचलित नहीं होने देना चाहिए। इस निःस्वार्थ और अलिप्त भाव का विकास अपने जीवन के कार्यों में लगे रहते हुए भी हो सकता है, और होना चाहिए। इसके सतत अभ्यास से, प्रगति की उच्चतर सीढ़ियों पर पहुंचने के बाद, योग और संन्यास के मार्ग का अन्तर मिट जायगा।

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥ ४-१६

कर्म क्या है, अकर्म क्या है? इस विषय में बुद्धिमानों को भी भ्रम होता है। इसलिए मैं तुझे बताऊंगा कि कर्म कैसे करना चाहिए। इसे जान कर तू अशुभ से बचेगा।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥ ४-१८

जो कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म को देखता है, वह मनुष्यों में सच्चा ज्ञानी है। वह सब कर्मों को करता हुआ भी योगी है।

कर्म में अकर्म को देखना नियत या स्वयं स्वीकार किये हुए कर्मों को करते-करते ही स्वार्थ-कामना के त्याग के सिद्धांत को समझना और पूर्ण करना है। अकर्म और कर्म को देखना यह समझना है कि बाह्य संयम ही मानसिक शुद्धि नहीं है; उसका अर्थ अभ्यास द्वारा आन्तरिक कामना का नियंत्रण करना भी है। दोनों पहलुओं को चौथे अध्याय के इकतालीसवें श्लोक में—जो पृष्ठ ३३ पर उद्धृत है—फिर से

दुहराया गया है।

जो कर्म स्वार्थ-कामना से रहित होकर किये जाते हैं, वे बन्धन उत्पन्न नहीं करते।

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥ ४-१६

जिसके समारम्भ कामनाओं से संयोजित नहीं होते और जिसके कर्म ज्ञानाग्नि में तप कर शुद्ध हो गये हैं, उसे ही सत्य का साक्षात्कार हुआ है, ऐसा ज्ञानी जन कहते हैं।

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वाऽपि न विबद्ध्यते॥ ४-२२

जो यथालाभ से सन्तुष्ट रहता है, जो सुख-दुःखादि द्वन्द्वों से मुक्त हो गया है, जो द्वेषरहित हो गया है, जो सफलता-असफलता में तटस्थ है, वह कर्म करता हुआ भी बन्धन में नहीं पड़ता।

वेदों में यज्ञ का विधान है; किन्तु गीता में साहसपूर्ण तथापि सौम्य व्याख्या-क्रम द्वारा यह विचार विकसित किया गया गया है कि यज्ञ का तत्त्व कर्मकाण्ड नहीं वरन् स्वार्थ-कामना का त्याग है। गीता बताती है कि वैदिक शिक्षा की सच्ची व्याख्या के अनुसार यज्ञों के अनेक स्वरूप हो सकते हैं। सब यज्ञों में कर्म की आवश्यकता होती है। इस कारण से भी कर्म का त्याग नहीं किया जाना चाहिए; उसे केवल कामनाओं के बन्धन से मुक्त करके यज्ञ का रूप दिया जाना चाहिए। इस प्रकार यज्ञ की व्याख्या विशद करके गीता में कहा गया है :

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम्॥ ४-३१

यज्ञ से बचा हुआ हविष्य अमरत्व प्रदान करता है। उसे खाने-वाले सनातन ब्रह्म को पाते हैं। यज्ञ न करनेवाला इसी लोक में कुछ नहीं पाता, फिर परलोक की तो बात ही क्या ?

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धितान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे॥ ४-३२

इस प्रकार वेदों में अनेक प्रकार के यज्ञों का वर्णन हुआ है। इन सबको कर्म से उत्पन्न हुआ जान। इस प्रकार सबको जानकर तू मोक्ष पायगा।

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥ ४-३३

अनेक प्रकार के द्रव्यों से किये जानेवाले यज्ञ की अपेक्षा ज्ञान-यज्ञ अधिक श्रयस्कर है, क्योंकि सब विहित कर्मों की पूर्ण सफलता सच्चे ज्ञान की प्राप्ति में ही निहित है।

समस्त कर्मों के प्रति तटस्थता का भाव विकसित करने में ही ज्ञान प्रकट होता है। ज्ञान 'जानकारी' या 'बुद्धिमत्ता' से पूरी तरह व्यक्त नहीं होता। उसके लिए पर्यवेक्षित सत्य के अनुसार अपने आपमें पूर्ण परिवर्तन की आवश्यकता है। ऐसा परिवर्तन शेष संसार के साथ अपनी और ईश्वर के साथ समस्त संसार की एकता की उत्तरोत्तर अनुभूति का परिणाम तथा उसी अनुभूति की ओर ले जाने वाला होता है। स्वार्थ के हेतु से मुक्त हो जाने पर कर्म-मुक्त और पापरहित हो जाता है। निम्नलिखित श्लोकों में यह स्पष्टतः बताया गया है :

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥ ४-३७

जैसे प्रज्वलित अग्नि इंधन को भस्म कर देती है, वैसे ही ज्ञानरूपी अग्नि सब कर्मों को भस्म कर देती है।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥ ४-३८

इस संसार में ज्ञान के समान शुद्ध करनेवाला दूसरा कुछ नहीं है। जो निःस्वार्थ कर्म में अपना अभ्यास पूर्ण कर लेता है, वह यथासमय उस ज्ञान को अपने आपमें प्राप्त करता है।

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय॥ ४-४१

जो मनुष्य त्याग-भाव से कर्म करता है, जिसने ज्ञान के द्वारा संशय को छिन्न कर डाला है और जो सदैव अपने आत्मा के प्रति जाग्रत रहता है, उसे कर्म नहीं बांधते।

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनाऽऽत्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥ ४-४२

इसलिए ज्ञानरूपी खड्ग से अपने हृदय से इस अज्ञान-जन्य संशय को नष्ट कर और योग में स्थिर होकर खड़ा हो जा।

इस प्रकार त्याग और कर्त्तव्य-पालन के मार्गों में कोई वास्तविक भेद नहीं है। सच्चा त्याग और सच्चा कर्त्तव्य-पालन एक ही बात है। दोनों का सार व्यक्तिगत इच्छाओं को छोड़ना ही है।

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥ ५-४

सांख्य और योग को बालक ही भिन्न बताते हैं, पंडित नहीं। किसी में भी उचित रीति से स्थिर रहनेवाला दोनों का फल पाता है।

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥ ६-१

जो मनुष्य विहित कर्म को अपने कर्त्तव्य के रूप में और फल की आशा किये बिना करता है, वह संन्यासी भी है और योगी भी; जो अग्नि का और समस्त क्रियाओं का त्याग करके बैठ जाता है, वह नहीं।

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन॥ ६-२

जिसे संन्यास कहते हैं उसे तू योग जान। जिसने मन के संकल्पों को त्यागा नहीं, वह कभी योगी नहीं हो सकता।

यदि मनुष्य एक बार व्यक्तिगत कामना से मुक्त हो गया, उसने समस्त सृष्टि की एकता का अनुभव कर लिया और, इसके परिणाम-प, उसमें अलिप्तता की समुचित दृष्टि विकसित हो गई, तो वह

संन्यासी है—भले ही वह सब प्रकार के सामाजिक कर्मों में लगा रहता हो।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥ ५-७

जो योग के मार्ग पर चलता है, जिसका हृदय शुद्ध हो गया है, जिसने अपने और अपनी इन्द्रियों के ऊपर विजय प्राप्त कर ली और जिसका भूतमात्र से एकात्म्य हो गया है, वह कर्म करता हुआ भी उससे अलिप्त रहता है।

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये॥ ५-११

योगीजन आसक्तिरहित होकर शरीर से, मन से, बुद्धि से या केवल इन्द्रियों से भी आत्मशुद्धि के लिए कर्म करते हैं।

भगवद्‌गीता की इस शिक्षा से हिन्दू धर्म-सिद्धान्तों में किसी विरोधात्मक और नये मत का प्रतिपादन नहीं होता। यह हिन्दू धर्म के प्रथम आचार्यों द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों का विशदीकरण-मात्र है। इस अध्याय में संकलित श्लोकों में जिन बातों पर जोर दिया गया है, वह सब ईशावास्योपनिषद् के निम्नलिखित श्लोकों में निहित हैं :

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मागृधः कस्यस्विद्धनम्॥
कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

जगत् में जो कुछ भी है वह सब परमात्मा में स्थित है। इसका अनुभव करके हृदय में उठनेवाली कामनाओं को—उदाहरणार्थ, दूसरे की उपभोग्य वस्तु प्राप्त करने के विचार को—त्याग दो। आनन्द की उपलब्धि कामना के त्याग से होती है। जीवन के नियत वर्ष व्यतीत करते हुए अपना कर्त्तव्य करते रहो। उपर्युक्त अलिप्तता और समर्पण से ही मनुष्य कर्म से अदूषित रह सकता है, अन्यथा नहीं।

गीता में कर्म-त्याग के प्रयत्नों के बदले निःस्वार्थ भाव से कर्त्तव्य करने पर बार-बार जोर दिया गया है। अठारहवें अध्याय का प्रारम्भ निम्नलिखित श्लोकों से होता है। यद्यपि इस अध्याय को 'संन्यास योग' नाम दिया गया है, इसमें गीता की समस्त शिक्षा का उपसंहार है :

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥ १८-२

कामना से उत्पन्न हुए कर्मों के त्याग को ज्ञानी संन्यास के नाम से जानते हैं। समस्त कर्मों के फल के त्याग को बुद्धिमान लोग त्याग कहते हैं।

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः॥ १८-७

नियत कर्म का त्याग उचित नहीं है। इस प्रकार का त्याग भ्रम से किया जाता है वह तामसिक प्रकृति का लक्षण है।

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
संगं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः॥ १८-९

जो नियत कर्म इस भावना से किया जाता है कि उसे अलिप्तता के साथ और फल कीकामना को त्यागकर करना चाहिए, उसमें निहित त्याग ही सात्त्विक माना गया है।

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते॥ १८-११

देहधारी देह का भार वहन करता हुआ कर्म का सर्वथा त्याग कभी नहीं कर सकता। जो कर्मफल का त्याग करने में सफल हो जाता है, उसका काम पूरा हो जाता है और वह त्यागी कहलाता है।

निम्नलिखित श्लोकों में यही विचार पुनः प्रतिपादित किया गया है। उनमें ईश्वरेच्छा के प्रति पूर्ण आत्म-समर्पण और दैवी विभूति के पूर्ण आश्रय पर भी जोर दिया गया है :

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ।। १८-५६

अपनी स्थिति से संबंध रखने वाले समस्त कर्मों को सदा करता हुआ भी जो मेरा आश्रय ग्रहण करता है, वह मेरी कृपा से शाश्वत, अव्यय पद प्राप्त करता है ।

चेतसा सर्वकर्माणि मयि सन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ।। १८-५७

मन से सब कर्मों को मुझे समर्पित करके, मुझे प्राप्त करने के लिए आतुर होकर; बुद्धियोग का अभ्यास कर और सदा अपने चित्त को मुझसे परिपूरित रख ।

मन की स्थिरता प्राप्त करने के लिए आत्मा के सच्चे स्वरूप और प्रकृति तथा पुरुष के साथ उसके संबंध का निरन्तर मनन करते रहना आवश्यक हैं । परन्तु इस प्रकार का मनन तब तक असंभव और व्यर्थ है जब तक अपने कर्म करते हुए उनसे अलिप्त रहने का अभ्यास न किया जाय । सत्य के मनन द्वारा मन की स्थिरता प्राप्त करना और साधारण कर्मों में अलिप्त रहने का अभ्यास करना—ये दोनों वास्तव में एक दूसरे के पूरक हैं । प्रयत्न के सफल हो जाने के पश्चात् इनमें कोई सच्चा भेद नहीं रह जाता । जब मन आत्मसंयम, अलिप्तता और ईश्वर के साथ एक हो जाने की उत्कंठा से परिपूर्ण हो जाता है और मनुष्य इसी अवस्था में रहने लगता है तब बुद्धियोग सिद्ध होता है ।

समय के पूर्व संसार का त्याग करने से मन की स्थिरता प्राप्त नहीं हो सकती । कर्म-निवृत्ति का वास्तविक महत्व व्यक्तिगत कामना अथवा हेतु की निवृत्ति में निहित है और वह निष्काम कर्म से ही प्राप्त होता है । इस प्रकार संन्यास और कर्मयोग अभिन्न हैं ।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ।। २-४७

तेरा कर्त्तव्य केवल कर्म करना है, उसके फल की चिन्ता करना

कदापि नहीं; इसलिए, कर्म का फल तेरा हेतु न हो; कर्म न करने का भी तुझे आग्रह न हो।

योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥ २-४८

योगस्थ होकर, आसक्ति त्याग कर कर्म कर और सफलता-असफलता में सम-भाव रख। समता को ही योग कहा जाता है।

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥ ३-३

मैंने पहले दो मार्ग बतलाये हैं—एक तो सांख्यों का बताया हुआ सत्य के साक्षात्कार द्वारा योग का और दूसरा योगियों का बताया हुआ निःस्वार्थ तथा अनासक्त कर्म द्वारा योग का। मनुष्य इनमें से किसी भी मार्ग का अनुसरण कर सकते हैं।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिसमधिगच्छति॥ ३-४

कर्म का आरम्भ न करने से आत्मा को कर्म से निवृत्ति प्राप्त नहीं होती और न कर्म के केवल बाहरी त्याग से मोक्ष प्राप्त होता है।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वं प्रकृतिजैर्गुणैः॥ ३-५

कोई एक क्षण भी वास्तव में कर्म किये बिना नहीं रह सकता। प्रकृति से उत्पन्न हुए गुण परवश पड़े प्रत्येक मनुष्य से कर्म कराते हैं।

मनुष्य कर्म को छोड़ने और संन्यास का मार्ग ग्रहण करने के बड़े-बड़े प्रयत्न करते हैं; परन्तु उनका परिणाम मिथ्याचार, आत्म-प्रवंचना और मन की अधिकाधिक अशुद्धि ही होती है। अधिक सुरक्षित मार्ग यह है कि अलिप्त भाव से कर्म करने का प्रयत्न किया जाय।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥ ३-६

जो मनुष्य कर्म करनेवाली इन्द्रियों को रोकता है, परन्तु मन से उन इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन करता रहता है, वह अपने-आपको धोखा देता है और मिथ्याचारी कहलाता है।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ३-७

परन्तु जो इन्द्रियों को मन के द्वारा नियम में रखता हुआ, संग-रहित होकर, कर्मेन्द्रियों का उपयोग करता है और इस प्रकार कर्मयोग का अभ्यास करता है, वह श्रेष्ठ पुरुष है।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिध्येदकर्मणः ॥ ३-८

इसलिए तू उचित कर्म कर। कर्म न करने से कर्म करना ही अधिक अच्छा है। कर्म के बिना जीवन का निर्वाह भी संभव नहीं है।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर ॥ ३-९

मनुष्य कर्म-बन्धन में तभी पड़ता है जब वह यज्ञ की भावना को छोड़कर अन्य भावना से कर्म करता है; इसलिए तू आसक्ति छोड़कर यज्ञ की भावना से कर्म कर।

धार्मिक व्यक्ति के मन में सबसे पहले कर्म से निवृत्त होने और संसार का त्याग करने की स्फूर्ति होती है। प्राचीन हिन्दू धर्म-शिक्षा में इस वृत्ति की ओर सम्मान स्पष्ट है; परन्तु गीता में इसे निश्चित रूप से अस्वीकार कर दिया गया है उसमें जोर दिया गया है कि आनुवंशिक प्रवृत्तियों के होते हुए कर्म करना अनिवार्य है। दमन से मन और भी स्वच्छन्द होता है। बाहरी रूप से इस पर अंकुश रखकर इसके अनुसार कर्म न करने से कोई लाभ नहीं होता। उससे मिथ्याचार और विकृति उत्पन्न होती है। दूसरी ओर अनासक्ति के अभ्यास से, आत्मा को अप्राकृतिक दमन के बिना ही आनुवंशिक गुणों के भार से मुक्त हो जाने की शिक्षा प्राप्त होती है।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते ॥ ३-२७

हमारे सब कर्म हमारी प्रकृति के गुणों द्वारा निश्चित होते हैं। अहंकार से मूढ़ बना हुआ मनुष्य मानता है कि मैं ही कर्ता हूँ।

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥ ३-२८

परन्तु जो गुणों और कर्म का रहस्य जानता है, यह मानकर कि गुण अपनी अभिव्यक्ति कर रहे हैं; अपने आपको तटस्थ रखता है।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥ ३-३३

ज्ञानी भी अपने स्वभाव के अनुसार बरतते हैं। प्राणी मात्र अपने स्वभाव का अनुसरण करते हैं। वहाँ दमन क्या कर सकता है?

अब संसार का त्याग करके संन्यासी बनने के विरुद्ध एक प्रबल तर्क। आप संन्यास ग्रहण करके और अलग खड़े होकर यह अपेक्षा नहीं कर सकते कि दूसरे लोग समाज का साधारण काम-काज चलाते रहें। सामाजिक जीवन तो जारी रहना ही है; और आप जो कुछ करते हैं, उसका दूसरे लोग अनुकरण करेंगे, यह अपेक्षा भी रखनी चाहिए। गीता का नीतिशास्त्र मुख्यतः सामाजिक है। उसके अनुसार, राजर्षि जनक के लिए जो अच्छा था वह सभी के लिए पर्याप्त मात्र में अच्छा है।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि ॥ ३-२०

जनकादि ने कर्म से ही परम सिद्धि प्राप्त की। लोक-संग्रह की दृष्टि से भी तुझे कर्म करना उचित है।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ ३-२१

जो-जो आचरण उत्तम पुरुष करते हैं उसका अनुसरण दूसरे लोग करते हैं। वे जिसे प्रमाण बनाते हैं, उसका लोग अनुसरण करते हैं।

संसार के लिए ज्ञानी और अज्ञानी सबके सहयोग की आवश्यकता है। ज्ञानियों की पंक्तियां बराबर बढ़ती रहनी चाहिए। परन्तु, इसी बीच, भूलना नहीं चाहिए कि सामाजिक जीवन में अज्ञानी के सहयोग की उपेक्षा नहीं की जा सकती। इसलिए उनके मन को जान-बूझकर डांवाडोल नहीं करना चाहिए।

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥ ३-२५

जैसे अज्ञानी लोग आसक्त होकर कर्म करते हैं, वैसे ही ज्ञानी को आसक्तिरहित होकर लोककल्याण की इच्छा से कर्म करना चाहिए।

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥ ३-२६

कर्म-फल में आसक्त अज्ञानी मनुष्य की बुद्धि को ज्ञानी डावांडोल न करे, परन्तु स्वयं योग के नियमों का अनुसरण करके कर्म करे और सब कर्मों को आकर्षक बनाए।

प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥ ३-२९

प्रकृति के गुणों से मोहे हुए मनुष्य उस मोहजनित आसक्ति से कर्म में प्रवृत्त होते हैं। जिसे सत्य की अनुभूति हो गई है, वह इन दुर्बल मनवाले लोगों की कच्ची बुद्धि को अस्थिर न करे।

५ : : मनोनिग्रह का अभ्यास

(अध्याय २—श्लोक ६०-६३, ६७ । अध्याय ३—श्लोक ३६-४१ । अध्याय १६—श्लोक २१,२२ । अध्याय १८—श्लोक ३६-३७)

पिछले अध्याय में बताई हुई गीता की यह शिक्षा कि, सच्चा संन्यास आसक्तिरहित कर्म में है, संसार का त्याग करने में नहीं, कोई ऐसी उपपत्ति नहीं है, जिसे संसार का त्याग करने के अनिच्छुक लोगों के समर्थन अथवा सफाई के लिए प्रस्तुत किया गया हो। वह मनुष्यों के जीवन को प्रस्यक्षत: गढ़ने के लिए आधार के रूप में प्रतिपादित की गई है, जिससे कि उनमें नि:स्वार्थता और अलिप्तता की आदत तथा स्फूर्ति विकसित हो। बत्तख पानी में तैरती है, परन्तु बाहर निकलने पर अपने शरीर का सब पानी झाड़ देती है। हमें उसीके समान संसार में रहना सीखना चाहिए। हमारे काम में दक्षता, सुघरता और कुशलता का अभाव न हो और फिर भी हम स्वार्थपूर्ण आसक्ति को विकसित न होने देने के लिए सतर्क रहें। अलिप्तता का यह भाव कायम रखने के लिए मनोनिग्रह का सतत अभ्यास आवश्यक है।

काम, क्रोध और लोभ अच्छे संकल्प के शत्रु हैं। जो मनुष्य अपने अन्दर अनासक्ति का विकास करना चाहता है, उसे मन को क्षुब्ध करने वाले इन विकारों से सतत सावधान रहना चाहिए। यदि मन पर नियंत्रण हो गया तो शेष सब स्वयं सुधर जायगा। विचारों की शक्ति अच्छाई और बुराई दोनों ही के लिए बहुत बड़ी होती है। यदि मन पर सावधानी के साथ पहरा न रख गया तो कामना इन्द्रियों को वश में

कर लेगी। हमारे विचारों पर अधिकार जमा लेगी, हमारी बुद्धि को भ्रष्ट कर देगी और अन्त में हमारा नाश कर देगी। इसलिए कामना के साथ युद्ध उसी समय छेड़ देना चाहिए जब कि वह हमारे विचार-मंदिर में प्रवेश करने के लिए द्वार पर आकर खड़ी हो।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥ २-६०

इन्द्रियों का स्वभाव इतना प्रबल है कि चतुर पुरुष के सचाई के साथ उद्योग करते रहने पर भी वे उसके मन को बलपूर्वक हर लेती है।

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ २-६१

इन सबको वश में रखकर उसे शान्त मन से और मुझमें तन्मय होकर रहना चाहिए। जिसने अपनी इन्द्रियों को वश में कर लिया है उसकी बुद्धि स्थिर है।

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥ २-६२

जब कोई मनुष्य अपने मन को विषयों के चिन्तन में लगा देता है तो उसे उनमें आसक्ति होती है। आसक्ति कामना में परिणत होती है और कामना से क्रोध के कारण उत्पन्न होते हैं।

क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥ २-६३

क्रोध से मोह उत्पन्न होता है। मूढ़ता से स्मृति और बोधशक्ति भ्रांत हो जाती है। इस भ्रांति से विवेक-शक्ति का नाश होता है और विवेक-शक्ति नष्ट हो गई तो मनुष्य का नाश हो जाता है।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥ २-६७

भटकती हुई इन्द्रियों के पीछे दौड़ने वाला मन मनुष्य की बुद्धि को अपने साथ खींच ले जाता है, जैसे तूफान समुद्र में जहाज को खींच ले जाता है।

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥ ३-३६

अर्जुन ने पूछा

यद्यपि मनुष्य पाप करना नहीं चाहता, फिर भी वह बलात्कार के वशीभूत हुआ-सा किसकी प्रेरणा से पाप करता है ?

श्रीभगवानुवाच :

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्धयेनमिह वैरिणम् ॥ ३-३७

श्री भगवान ने कहा :

वह काम है, क्रोध है। वह रजोगुण से उत्पन्न होता है। उसका पेट ही नहीं भरता। वह महापापी है। उसे इस लोक में अपना शत्रु समझो।

धूमेनाऽव्रियते वह्निर्यथाऽऽदर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥ ३-३८

जैसे धुएं से अग्नि, मैल से दर्पण या झिल्ली से गर्भ ढंका रहता है, वैसे ही इस शत्रु से ज्ञान आवृत्त रहता है।

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥ ३-३९

तृप्त न किया जा सकने वाला यह कामरूपी शत्रु ज्ञानियों का नित्य वैरी है। यह ज्ञान को घेरकर बंदी बना रखता है।

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्॥ ३-४०

कहा गया है कि यह शत्रु इन्द्रियों, मन और बुद्धि पर अधिकार करके और इस प्रकार ज्ञान को घेर कर एवं पृथक करके, उनके द्वारा देही अर्थात् आत्मा को भ्रांत कर देता है।

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्॥ ३-४१

इसलिए पहले तो इन्द्रियों को शासन में रखकर इस पापी का नाश कर। जो ऐसा न किया तो, ज्ञान और विवेक को नष्ट कर डालेगा।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥ १६-२१

आत्मा का नाश करने वाले नरक के ये तीन द्वार हैं—काम, क्रोध और लोभ, इसलिए इन तीनों का त्याग करना चाहिए।

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥ १६-२२

इन तीनों नरक-द्वारों से दूर रहने वाला मनुष्य आत्मा के कल्याण का आचरण करता है और परमगति को पाता है।

सच्चा सुख उससे प्राप्त नहीं होता, जो पहले अमृत के समान मालूम होता है, परन्तु अन्त में विष बन जाता है। आत्मसंयम से सच्चा सुख प्राप्त होता है, यद्यपि प्रारम्भ में वह कठिन और अप्रिय होता है।

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति॥
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्॥ १८-३६,३७

तीन प्रकार के सुखों में से वह सुख, जिसके उत्तरोत्तर अभ्यास से मनुष्य प्रसन्न रहता है और जिससे दुःख का अन्त होता है, जो आरम्भ में विष के समान दुःस्वादु लगता है, परन्तु अन्त में अमृत के समान होता है, जो स्पष्ट आत्मबोध से उत्पन्न होता है, सात्विक कहलाता है।

६ : : ध्यान

(अध्याय २—श्लोक १४, १५, ३८। अध्याय ५—श्लोक २२,२४, २६, २८। अध्याय ६—श्लोक ३-७, १०-१४, १६, १७, १९, २४-२७। अध्याय १२—श्लोक १३-१०। अध्याय १४—श्लोक २२-२५)।

साधारण कार्यों में निःस्वार्थता का अभ्यास करने के बाद, मुमुक्षु सुख और दुःख के प्रति उपेक्षा की ओर अग्रसर हो सकता है। किसी प्रयत्न में सफलता अथवा असफलता से मन विचलित नहीं होना चाहिए। सुख और दुःख को स्वभाव से ही एक-दूसरे का पूरक मानकर और अस्थायी समझकर समत्व भाव से स्वीकार करना चाहिए। ये दोनों सापेक्षता के सार्वलौकिक नियम के अंग हैं और इनसे बचा नहीं जा सकता। ये 'जड़ प्रकृति के संसर्ग' से उत्पन्न होते हैं। आत्मा पर इनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥ २-१४

भौतिक संसर्ग सर्दी और गर्मी, सुख और दुःख उत्पन्न करता है। ये संवेदनाएं अनित्य हैं—आती हैं और चली जाती हैं। इनमें वास्तविकता नहीं होती। इन्हें तू अविचलित भाव से सह।

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥ २-१५

जो पुरुष इनसे विचलित नहीं होता, जो धीर है और सुख तथा दुःख में सम रहता है, वह अमरत्व के योग्य बनता है।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥ २-३८

सुख और दुःख, लाभ और हानि, जय और पराजय का सम भाव से स्वागत करके युद्ध के लिए तैयार हो। ऐसा करने से तुझे पाप नहीं लगेगा।

मनुष्य के अपने विचार और अपने कर्म ही उसके आत्मा के भवितव्य पर असर डालते हैं, बाहर से बारी-बारी से आनेवाले सुख और दुःख नहीं।

सच्चा सुख संसर्गजन्य आनन्द से प्राप्त नहीं होता, वरन् आत्मसंयम से प्राप्त होता है। आत्मनिग्रह के अभ्यास से मन में उत्पन्न होनेवाला समत्व ऐसा परिवर्तन करता है कि कहा जा सकता है, उससे शरीर के अन्दर बन्दी रहता हुआ भी आत्मा स्वतन्त्र हो जाता है।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥ ५-२२

जो सुख संस्पर्श से उत्पन्न होते हैं, वे दुःखों के मूल बन जाते हैं। वे आदि और अन्त वाले हैं। बुद्धिमान उनमें सुख का अनुभव नहीं करते।

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥ ५-२३

वह मनुष्य सुखी है और योगी है, जिसने, देहान्त के पूर्व इस लोक में ही, काम और क्रोध के वेग को रोकने का अभ्यास कर लिया हो।

योऽन्तः सुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥ ५-२४

जिसका सुख उसके अन्दर ही है, जिसे अपने हृदय से ही आनन्द की उपलब्धि होती है, जिसका अन्त:करण ज्योतिर्मय है, वह योगी परम मुक्ति पाता है और ब्रह्म में विलीन हो जाता है।

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्॥ ५-२६

उन यतियों को परम मुक्ति—ब्रह्मनिर्वाण—सुलभ है, जिन्होंने मन को वश में किया है, काम और क्रोध को जीत लिया है और जो अपने को पहचानते हैं।

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः॥ ५-२८

इन्द्रियों, मन और बुद्धि को सदा वश में रखकर तथा इच्छा, भय और क्रोध से रहित होकर जो मुनि मोक्ष के प्रयत्न में निमग्न रहता है, वह मुक्त ही है।

तथापि, सब कर्तव्यों को नि:स्वार्थ भाव से करने के अभ्यास के पूर्व मन का यह समत्व प्राप्त करने का प्रयत्न असामयिक होगा। यदि मनुष्य साधारण कार्यों में, अभ्यास के द्वारा, निस्वार्थ भाव को स्वयं-स्फूर्त बना ले तो वह सफलता या असफलता, आनन्द या उद्वेग की परवाह किये बिना ही मानसिक समत्व की अधिक कठिन साधना के योग्य बन जायेगा।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥ ६-३

योगसाधन के इच्छुक मुनि के लिए कर्त्तव्यपालन साधन बताया गया है; योगारूढ़ हो जाने पर उसके लिए शम (समत्व) को साधन कहा गया है।

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढ़स्तदोच्यते ॥ ६-४

जब मनुष्य इन्द्रियों के विषयों में या इन्द्रियों के हेतु कर्म करने में आसक्ति का अनुभव नहीं करता और उसका मन इस प्रकार के कामों के सब संकल्पों से मुक्त हो जाता है तब वह योगारूढ़ कहलाता है।

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नाऽऽत्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ६-५

मनुष्य आत्मा से आत्मा की उन्नति करे और अन्तर्निवासी आत्मा को दुर्बल न होने दे। वस्तुतः आत्मा ही आत्मा का एकमात्र बन्धु है, परन्तु आत्मा ही अपना शत्रु भी है।

बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ ६-६

जिसने आत्मनिग्रह द्वारा अपने मन पर विजय प्राप्त कर ली है, उसका मन उसका बन्धु है; परन्तु जिसने अपने मन पर शासन करना नहीं सीखा, वह अपना ही घोर शत्रु बन जाता है।

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥ ६-७

जिसने अपने मन को जीत लिया है और मन की शान्ति प्राप्त कर ली है, उसका रूपान्तरित आत्मा सर्दी और गर्मी, सुख और दुःख, मान और अपमान में समत्वभाव से रहता है।

कर्मयोग की साधना के बाद—अर्थात् स्वार्थ-कामना से रहित होकर और सफलता अथवा असफलता से उद्विग्न हुए बिना अपने नियत कर्त्तव्य करने की साधना के बाद—मुमुक्षु को जितनी अधिक बार संभव हो, गहरे और निर्विघ्न ध्यान के लिए संसार का त्याग करना

चाहिए। इस प्रकार का ध्यान मन की समता प्राप्त करने में बहुत सहायक होता है। निम्नलिखित श्लोकों में इस प्रकार के ध्यान का अभ्यास योग माना गया है :

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥ ६-१०

मन का संयमन करके, कामनाओं और संग्रह का विचार छोड़कर, बहुधा एकान्त स्थान में एकाकी रहकर योगी को अपना मन अपने आत्मा पर एकाग्र करना चाहिए।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥ ६-११

पवित्र स्थान में अपने लिए बनाये हुए निश्चित आसन पर—जो न बहुत ऊंचा और न बहुत नीचा हो—कुश, मृगचर्म और वस्त्र बिछाकर वह बैठे।

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥ ६-१२

वहां बैठकर मन को एकाग्र करके, विचारों तथा इन्द्रिय कर्मों का संयमन करके उसे आत्मशुद्धि के लिए ध्यान करना चाहिए।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥ ६-१३

धड़, गर्दन और शिर एक सीध में अचल रखकर, दृष्टि को नसिकाग्र पर जमाकर, इधर-उधर न देखता हुआ—

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥ ६-१४

आन्तरिक शान्ति के साथ, निर्भय, ब्रह्मचर्यव्रत में दृढ़, मन पर भलीभांति शासन और मेरा चिन्तन करता हुआ वह युक्त होकर बैठे और मुझे प्राप्त करने के प्रयत्न में निमग्न हो।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन।। ६-१६

योग उसके लिए नहीं है, जो बहुत खाता है और न उसके लिए ही है, जो पूरी तरह उपवास करता है। वह बहुत सोनेवाले या बहुत जागनेवाले के लिए भी नहीं है।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।। ६-१७

योग, जो दुःख का नाशक है, उसके लिए है, जो आहार-विहार में, अन्य कर्मों में, सोने-जागने में संयत और नियमित रहता है।

यथा दीपो निवातस्थो नेंगते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः।। ६-१९

पूर्णतया शांत वायु के स्थान में रखे हुए दीपक की शिखा स्थिर रहती है। मन को वश में रखनेवाले योगी के अचल ध्यान को इसी के समान बताया गया है।

सभी कार्यों में, जिनमें तपस्या भी सम्मिलित है, मध्यम मार्ग पर किये गए आग्रह का ध्यान रखना चाहिए। सफलता का रहस्य मन के साथ भागने में सतत प्रयत्नशील विचारों को वश में करने की निरंतर साधना में निहित है, तपस्या की अति कठोरता में नहीं।

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः।। ६-२४

मन को समस्त कामनाओं से मुक्त करके और मन के द्वारा इन्द्रिय समूह को सब ओर से नियम में लाकर—

शनैःशनैरुपरमेद् बुद्धया धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्।। ६-२५

वह अपनी बुद्धि का निरन्तर प्रयोग करके धीरे-धीरे अन्तर्मुख होता जाय और इस प्रकार मन को आत्मा में स्थित करके दूसरी किसी बात का विचार न करे।

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥ ६-२६

जब-जब चंचल और अस्थिर मन भागने का प्रयत्न करे, तब-तब वह उसे रोककर नियम में लाये और आत्मा में स्थित करे।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥ ६-२७

जिस योगी ने अपने अन्तस् की व्याकुलता मिटा दी है, जिसका मन शान्त हो गया है, जिसने इस प्रकार शुद्ध होकर सच्ची आत्मप्राप्ति कर ली है तथा जो ब्रह्ममय हो गया है, वह अवश्य उत्तम सुख प्राप्त करता है।

बारहवें अध्याय के निम्नलिखित श्लोकों में आदर्श मानसिक समत्व प्राप्त करनेवाले मनुष्य का वर्णन है :

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥ १२-१३

जो द्वेषरहित, प्राणीमात्र का मित्र, दयावान, 'मैं' और 'मेरा' के भाव से रहित हो सुख-दुःख में समान और सदा क्षमावान है—

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढ़निश्चयः ।
मय्यर्पितमनो बुद्धिर्यो मे भक्तः स मे प्रियः ॥ १२-१४

जो सदा संतोषी, आत्मयुक्त, इन्द्रियनिग्रही और दृढ़ निश्चयी है और जिसने अपने मन और बुद्धि को मुझे समर्पित कर दिया है, वह मेरा भक्त है और मुझे प्रिय है।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥ १२-१५

जो दूसरे प्राणियों को उद्विग्न नहीं करता और जो स्वयं संसार से उद्विग्न नहीं होता, जो सहर्ष, क्रोध और भय के उद्वेगों से मुक्त है, वह मुझे प्यारा है।

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥ १२-१६

जो इच्छा रहित है, पवित्र है, दक्ष है, उदासीन है, शांत है, और जिसने समस्त सांसारिक संकल्पों का त्याग कर दिया है, वह मेरा भक्त मुझे प्रिय है।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥ १२-१७

जो राग द्वेष नहीं करता, जो किसी वस्तु के लिए शोक अथवा उसकी कामना नहीं करता, जिसने शुभ और अशुभ का विचार छोड़ दिया है, वह भक्त मुझे प्रिय है।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः॥ १२-१८

जो शत्रु-मित्र, मान-अपमान, शीत-उष्ण और सुख-दुःख के प्रति मन में समान भाव रखता है और जिसने आसक्ति का त्याग कर दिया है—

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येनकेनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥ १२-१९

जो निन्दा और स्तुति को समान भाव से देखता है, मौन रखता है, जो कुछ मिल जाय उसी में सन्तुष्ट रहता है, किसी स्थान को अपना घर नहीं मानता और स्थिर चित्तवाला है, वह मेरा भक्त है और ऐसा भक्त मुझे प्रिय है।

कर्मों के नियमन और नियमित ध्यान से इस प्रकार विकसित हुआ मन का ममत्व आनुवंशिक भौतिक शरीर की शक्तियों से कभी भी भंग हो सकता है। मनुष्य को आत्म-साक्षात्कार हो जाने पर भी उसके आनुवंशिक भौतिक शरीर की ये शक्तियां अपना काम करती ही रहती हैं; परन्तु बुद्धिमान पुरुष निरन्तर सत्य का स्मरण करता हुआ अपनी रक्षा करता है। वह अपनी प्रकृति के बदलते हुए भावों से अशांत नहीं होता। ये भाव कभी मानसिक समता और कभी कर्म की स्फूर्ति, अथवा फिर

से, निष्क्रियता की वृत्ति के रूप में प्रकट हो सकते हैं।

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ।। १४-२२

जो प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह प्राप्त होने पर उनका स्वागत ही करता है, परन्तु इनके विलुप्त हो जाने पर फिर से इनकी इच्छा नहीं करता—

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेंगते ।। १४-२३

जो बदलती हुई मनोदशाओं से अपने अन्तरात्मा को यह सोचकर अलिप्त रखता है कि "मेरे भौतिक शरीर के गुण अपनी स्वाभाविक गति से चल रहे हैं," और अविचलित रहता है—

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ।। १४-२४

जो सुख और दुःख का समान स्वागत करता है, स्वस्थ रहता है, मिट्टी के ढेले, पत्थर और सोने को समान समझता है, प्रिय और अप्रिय में भेद नहीं करता और निन्दा तथा स्तुति में समान रहता है—

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ।। १४-२५

जो मान तथा अपमान में एक ही भाव रखता है, मित्र और शत्रु को एक ही दृष्टि से देखता है, जिसने समस्त सांसारिक समारंभों का त्याग कर दिया है, वह गुणातीत बताया गया है।

७ : : आनुवंशिक संस्कार

(अध्याय ५—श्लोक १४, १५। अध्याय १३—श्लोक २९, ३०, ३१। अध्याय १४—श्लोक—५, १९। अध्याय १८—श्लोक ४०, ६०, ६१)

दूसरों के विषय में विचार करने और उद्वेग के क्षणों में मन को शांत करने के लिए यह स्मरण करना उपयोगी होगा कि मनुष्य अनुचित आचरण क्यों करते हैं। हमारा जीवन सहज संस्कारों के भार के साथ प्रारम्भ होता है और जब कभी हम आत्मनिग्रह से काम लेने में असफल रहते हैं, वे संस्कार प्रकट होने लगते हैं। जब दूसरे गलती करते दिखलाई पड़ें तो हमें अपनी दुर्बलताओं पर विचार करना चाहिए। इसके अतिरिक्त, प्रत्येक कार्य के पीछे ईश्वर होता है, जो सच्चा कर्त्ता है। हमारी मर्यादित बुद्धि को जो बुरा मालूम होता है उसके बार-बार दिखाई देने से हमें उद्विग्न नहीं होना चाहिए। परमेश्वर की इच्छा और उसके संकल्प यद्यपि प्राकृतिक नियमों के द्वारा कार्यान्वित होते हैं, फिर भी जाने नहीं जाते।

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥ ५-१४

आत्मा न किसी दूसरे से कर्म कराता है, न स्वयं करता है। वह कर्मफल की चिन्ता भी नहीं करता। भौतिक प्रकृति के गुण ही सब कुछ करते हैं।

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥ ५-१५

आत्मा का सच्चा स्वभाव यह है कि वह किसी के पाप अथवा पुण्य से प्रभावित नहीं होता। सच्चा ज्ञान अज्ञान से ढक जाता है, इसी से लोग मोह में फंसते हैं।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथाऽऽत्मानमकर्तारं स पश्यति ॥ १३-२९

जो समझता है कि भौतिक प्रकृति की शक्तियाँ ही वस्तुतः सब कर्म करती हैं और आत्मा अकर्त्ता है, वही सत्य को जानता है।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ १३-३०

जब वह जीवों का अस्तित्व पृथक होने पर भी एक में ही स्थित देखता है और सारे विस्तार को उसी से उत्पन्न हुआ समझता है तब वह ब्रह्म को पाता है।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्माऽयमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥ १३-३१

यह अविनाशी और पवित्र आत्मा अनादि और निर्गुण होने के कारण शरीर में रहता हुआ भी न कुछ करता है, न किसी से लिप्त होता है।

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ १४-५

सत्व, रज और तम—इन गुणों से मनुष्य परिचालित होते हैं। ये गुण प्रकृति से उत्पन्न होनेवाले हैं। शरीर में रहता हुआ आत्मा—यद्यपि वह अविनाशी है—इन गुणों से बंध जाता है और इनके द्वारा ही परिचालित होता है।

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टाऽनुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥ १४-१९

जो पुरुष जान गया है कि भौतिक प्रकृति के गुणों के सिवा कोई कर्त्ता नहीं है, और जिसने उसे देख लिया है, जो इन गुणों से परे है, उसने मेरे भाव को प्राप्त कर लिया है।

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥ १८-४०

पृथ्वी पर या देवताओं के मध्य स्वर्ग में ऐसा कोई भी नहीं है, जो प्रकृति से उत्पन्न इन तीनों गुणों से मुक्त हो।

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥ १८-६०

तू मोह वश होने के कारण जो नहीं करना चाहता, वह भी अपनी प्रकृति के प्रभाव से विवश होकर करेगा।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ १८-६१

ईश्वर सब प्राणियों के हृदय में वास करता है और माया के बल से उन्हें यंत्र पर चढ़ी हुई पुतलियों की तरह घुमाता रहता है।

यहां पर माया का अर्थ गुणों से संघटित भौतिक प्रकृति है। उपर्युक्त श्लोकों से यह शिक्षा प्राप्त होती है कि मनुष्य जिन गुणों के साथ अपनी जीवनयात्रा आरंभ करता है, उनसे ही उसके कर्मों का निर्धारण होता है। यदि कोई व्यक्ति हमारी दृष्टि में गलत काम करता हो तो हमें क्रोध अथवा घृणा नहीं करनी चाहिए और न अपने सत्कार्यों पर अभिमान ही करना चाहिए। इन श्लोकों का अर्थ यह नहीं लगाना चाहिए कि मनुष्य उत्तरदायित्व से मुक्त है। गीता में स्पष्ट है कि गुणों के जिस भार के साथ हमारा जीवन प्रारंभ होता है, उससे मुक्ति केवल वैयक्तिक प्रयत्नों और आत्मसंयम की साधना से ही हो सकती है। 'मनुष्य पूर्वजन्म के कर्मों से उत्पन्न सहज संस्कारों के अनुसार कर्म करते हैं और इन संस्कारों की उपेक्षा करना संभव नहीं है'—यह शिक्षा दूसरों के प्रति उदार-भाव और अपने मन में शांति उत्पन्न करने के लिए है; अनुत्तरदायित्व का पाठ पढ़ाने के लिए नहीं। कर्मों से अनिवार्यतः उत्पन्न होनेवाले गुणों के कारण यदि हम दूसरों के प्रति अधिक दयावान बनने के बदले क्रूरता और घृणा का व्यवहार करने लगें तो यह गीता की शिक्षा के विपरीत होगा।

आत्मा एक दृष्टि से वास्तविक कर्त्ता नहीं है, दूसरी से है। गुण शरीर में स्थित हैं, वे इन्द्रियों और शरीर को प्रवृत्त करते हैं और आत्मा को शरीर के अन्दर बन्दी रखते हैं, तथापि आत्मा अलिप्त होकर गुणों पर

विजय प्राप्त कर सकता है। इसके लिए ज्ञान की आवश्यकता है। ज्ञान केवल अध्ययन अथवा ध्यान से प्राप्त नहीं होता। वास्तविक और उपयोगी रूप में उसकी प्राप्ति विचार और कर्मों पर नियंत्रण करने से ही हो सकती है। मनुष्य की वृत्तियां, जिन्हें सामान्यत: सत्त्व, रज और तम में वर्गीकृत किया गया है, प्रकृति से उत्पन्न होती तथा उसी में परिमित रहती हैं, अर्थात् वह आत्मा को शरीर प्रदान करने वाली प्रकृति से उत्पन्न होती और उसी में स्थित रहती हैं; परन्तु उनका प्रभाव आत्मा पर पड़ता है। आत्मनिग्रह और सच्चे ज्ञान की साधना से आनुवंशिक और भौतिक प्रकृति के इन गुणों के होते हुए भी मनुष्य अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकता है। यदि वह आत्मनिग्रह और अलिप्तता की साधना न करेगा तो न केवल इस भार के साथ जकड़ा रहेगा, वरन् इसे और भी अधिक बढ़ा लेगा।

८ : : सबके लिए आशा

(अध्याय ४—श्लोक ११ । अध्याय ७—श्लोक २०-२२ । अध्याय ९—श्लोक २३, २६, २७, २९-३२)

कर्म के सिद्धान्त से हमें भयभीत नहीं होना चाहिए। नियम अनुल्लंघनीय है, परन्तु ईश्वर प्रेम और नियम दोनों है। अपने पापों के वहुत बड़े और वहुत अधिक होने के कारण किसी को हताश होने की आवश्यकता नहीं। प्रार्थना और प्रायश्चित्त से आत्मा शुद्ध हो जाती है। हिन्दू स्मृतियों और शास्त्रों में कुछ भी कहा गया हो, गीता के अनुसार तो ईश्वर की कृपा प्राप्त करने में स्त्री-पुरुष का भेद अथवा जाति-भेद भी आड़े नहीं आता।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥ ४-११

मनुष्य जिस प्रकार मेरा आश्रय लेते हैं, उसी प्रकार मैं उन्हें फल देता हूँ, क्योंकि मनुष्य उपासना का कोई भी मार्ग ग्रहण करें, वे मुझे प्राप्त होते हैं।

यह विचार करने पर कि अब से कितने पहले इस सत्य को समझ कर मनुष्य के मार्गदर्शन के लिए इतने जोरदार शब्दों में प्रस्तुत कर दिया गया था, हिंदू धर्म के आचार्यों की आध्यात्मिक महानता को समझ सकते हैं और उसकी सराहना कर सकते हैं।

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया॥ ७-२०

अनेक कामनाओं से जिनका ज्ञान हरा गया है, वे अपनी प्रकृति के अनुसार भिन्न-भिन्न बाह्य विधियों का आश्रय लेकर दूसरे देवताओं की

शरण में जाते हैं।

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥ ७-२१

जो-जो भक्त जिस-जिस स्वरूप की भक्ति श्रद्धापूर्वक करता है, उस-उस स्वरूप में उसकी श्रद्धा को मैं ही दृढ़ करता हूं।

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मय्यैव विहितान्हि तान्॥ ७ २२

वह उस श्रद्धा से युक्त होकर उस स्वरूप की आराधना करता है और उसके द्वारा मेरी नियत की हुई अपनी कामनाएं पूरी करता है।

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥ ९-२३

दूसरे देवताओं के भक्त भी, जो उन्हें श्रद्धापूर्वक भजते हैं, मुझे ही भजते हैं—यद्यपि यह विधिपूर्वक नहीं होता।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥ ९-२६

मुझे पत्र, फूल या जल जो कुछ भी भक्तिपूर्वक अर्पित किया जाता है, उसे मैं प्रयत्नशील आत्मा द्वारा भक्तिपूर्वक अर्पित किया हुआ मानकर उत्सुकता के साथ ग्रहण करता हूं।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥ ९-२७

तू जो करे, जो खाये और जो हवन में होमे, जो दान दे, जो तप करे, वह सब मुझे अर्पण करके करना।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम॥ ९-२९

मैं सब प्राणियों में समभाव से रहता हूं। मुझे न कोई अप्रिय है और न प्रिय है। जो मुझे भक्तिपूर्वक भजते हैं वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें हूं।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥ ९-३०

यदि भारी दुराचारी भी अनन्य भाव से मुझे भजे तो उसकी गणना भी साधुओं में ही करनी चाहिए, क्योंकि अब उसका संकल्प अच्छा है।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥ ९-३१

वह तुरन्त धर्मात्मा हो जाता है और निरंतर शांति पाता है। तू निश्चय जान कि मेरे भक्त का कभी नाश नहीं होता।

जाति-भेद और स्त्री-पुरुष भेद संबंधी बाधाओं के विषय में विशेष उल्लेख है :

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥ ९-३२

जो भी तेरा आश्रय ग्रहण करते हैं, वे परम गति को प्राप्त करते हैं—चाहे वे स्त्रियां हों, वैश्य हों, शूद्र हों या पापयोनि में उत्पन्न हुए व्यक्ति हों।

हार्दिक प्रार्थना और पश्चात्ताप से पूर्व कर्मों का प्रभाव नष्ट हो जाता है, परंतु मनुष्य को इस धारणा से जान-बूझकर पाप-कर्म में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए कि बाद को उसका पाप धुल सकता है। कर्मों का प्रभाव केवल सच्चे पश्चात्ताप से मिटता है, और सच्चा पश्चात्ताप इस प्रकार नहीं होता। वह अत्यन्त कष्टमय मानसिक साधना; स्वयं ग्रहण किया हुआ दण्ड और पूर्व-पापों को शांत तथा शुद्ध करनेवाला साधन है; परन्तु उसका यह परिणाम सचाई से सहे हुए कष्ट के अनुपात में ही होता है।

पश्चात्ताप तथा आत्मग्लानि और भागवतप्रसाद तथा कृपा के लिए प्रार्थना शुद्ध मानसिक क्रियाएं हैं, न कि केवल शब्दोच्चार, विधियों के यांत्रिक अनुष्ठान या पुरोहितों द्वारा प्रदान की हुई पापमुक्ति। शब्द, विधि-अनुष्ठान और पुरोहित प्रेरणा देने में और पश्चात्ताप की मनः-स्थिति उत्पन्न करने में सहायक हो सकते हैं, परंतु केवल उनसे ही पाप का प्रक्षालन नहीं होता। मनुष्य अपने आपको और दूसरों को धोखा दे सकता है; परंतु वह साक्षात् सत्य को धोखा नहीं दे सकता और कर्म अव्यय सत्य है। आप रोगी को उसके तापमान के संबंध में या ग्राहक को बेची

हुई वस्तुओं के तोल के संबंध में भले ही धोखा दे सकें, परन्तु तापमापक-यंत्र या तराजू को धोखा नहीं दे सकते।

उपासना की विधियों का विशेष महत्त्व नहीं है। उनमें अन्तर हो सकता है, परन्तु वास्तव में वह सब एक ही हैं। तथाकथित धार्मिक मतभेदों के प्रति यही हिंदू धर्म का महान्, सर्वप्रधान और अनुपम भाव है।

निःसंदेह, यह शिक्षा उस समय प्रचलित उपासना के समस्त स्वरूपों लक्ष्यों की एकता से संबंध रखती है। हम यह दावा नहीं कर सकते कि बहुत बाद में प्रचलित हुए धर्मों और धार्मिक आचरण का भी उस समय विचार कर लिया गया था; परंतु इस तत्त्व का निरूपण इतने व्यापक शब्दों में किया गया है और इसके मूल सिद्धांतों का आधार इतना विस्तीर्ण है कि यह सब धर्मों पर लागू हो सकता है।

९ : : अनीश्वरवाद

(अध्याय १६—श्लोक ७-१८, २३, २४)

यह सत्य होने पर भी कि उपासना का स्वरूप कोई भी हो, उससे ईश्वर की प्राप्ति होती है, गीता में अनीश्वरवाद और भौतिकवाद की स्पष्ट निन्दा की गई है। उसमें भौतिक जीवन पद्धति का वर्णन ऐसी भाषा में किया गया है कि वह आधुनिक जीवन से ही संबंध रखती जान पड़ती है।

भौतिकवादी स्वीकार नहीं करता कि कोई बात स्वयं सही या गलत होती है।

> प्रवृत्तिं न निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
> न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥ १६-७

असुर जन यह नहीं जानते कि अच्छे लक्ष्य सिद्ध करने के लिए क्या करना ठीक है, और न वे यही जानते हैं कि बुराई को टालने के लिए किस काम से बचना ठीक है। उनमें पवित्रता, सत्य और सदाचार भी नहीं पाया जाता।

जीवन की विचारधारा का वर्णन इस प्रकार किया गया है।

> असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
> अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहेतुकम् ॥ १६-८

वे कहते हैं—जगत का आधार सत्य नहीं है; वह किसी आध्यात्मिक नियम के आधार पर नहीं चलता; उस पर ईश्वर का शासन नहीं है; जीव कामनाजन्य आकर्षण द्वारा पंचभूतों के संयोग से उत्पन्न हुए हैं; इसके सिवा कुछ नहीं है।

अनीश्वरवाद उन्नति, सभ्यता, शोषण और युद्ध के झूठे विचार उत्पन्न करता है।

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगयोऽहिताः॥ १६-६

इस प्रकार की दृष्टि का सहारा लेकर ये नष्टात्मा और अल्पबुद्धि मनुष्य उग्र कर्म करते हैं और जगत् के शत्रु बन जाते हैं तथा उसे नाश की ओर ले जाते हैं।

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद्गृहीत्वाऽसद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥ १६-१०

तृप्त न होने वाली कामनाओं से भरे हुए, दंभी, मानी, मदांध, मोह से दुष्ट-संकल्पों को ही ग्रहण करके अशुभ कर्मों में प्रवृत्त होते हैं।

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः॥ १६-११

मृत्यु तक समाप्त न होने वाली अपरिमित चिन्ताओं के अधीन होकर विषय-तृष्णा की पूर्ति को ही परम लक्ष्य माननेवाले और दृढ़ विश्वास रखनेवाले कि इसके सिवा संसार में कुछ नहीं है—

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान्॥ १६-१२

सैंकड़ों आशाओं के जाल में फंसे हुए, कामी और क्रोधी, विषय-भोग के लिए अन्यायपूर्वक धन-संचय की चाह रखते हैं।

सत्ता और सम्पत्ति के मद का—चाहे वह व्यक्तिगत हो, दलगत हो या राष्ट्रगत हो—और तज्जन्य विनाश तथा अराजकता का वर्णन नीचे दिया गया है :

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥ १६-१३

"आज मैंने पाया, यह मनोरथ (अब) पूरा करूंगा; यह धन तो मेरा है ही और यह भी शीघ्र ही मेरा हो जायगा—

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी॥ १६-१४

"इस शत्रु को तो मारा, दूसरे को भी मारूंगा, मैं शासन करता हूं, भोग मेरे इच्छाधीन है, सिद्धियाँ मेरे वश में हैं, मैं बलवान हूं, सुखी रहने के लिए ही मैं पैदा हुआ हूं—

आढयोऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः॥ १६-१५

"मैं श्रीमान् हूं, मैं कुलीन हूं, मेरे समान दूसरा कौन है? मैं यज्ञ करूंगा, दान दूंगा, मौज करूंगा"—इस प्रकार के अज्ञान से विमूढ़ हुए।

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥ १६-१६

अनेक विचारों से भ्रमित, मोहजाल में फंसे, विषय-भोग में मस्त हुए मनुष्य मलिन नरक में पड़ते हैं।

जाति का दंभ और तथाकथित संस्कृति अथवा सभ्यता का मिथ्याभिमान या परोपकार भी उन पापों के फल से रक्षा नहीं कर सकता,

जिनपर इन सबकी इमारत खड़ी हुई है।

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥ १६-१७

मिथ्याभिमानी, हठी, धन तथा मान के मद में चूर ये लोग दिखावे के लिए नाम-मात्र के और विधिरहित यज्ञ करते हैं।

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥ १६-१८

अहंकार, शक्ति-लोलुपता, घमंड, काम और क्रोध का आश्रय लेने-वाले ये निंदक-जन दूसरों के और अपने शरीर में रहने वाले ईश्वर से द्वेष करते हैं।

अन्तरात्मा की आवाज न सुनना, अपना अधःपतन करना या दूसरों को हानि पहुंचाना ईश्वर के द्वेष के समान है; क्योंकि ईश्वर सब मनुष्यों के आत्मा में निवास करता है और उनके द्वारा दुःख भोगता है। अगले अध्याय में पृष्ठ ७४ पर उद्धृत सत्रहवें अध्याय का छठा श्लोक भी देखिये।

केवल तृष्णा की पूर्ति पर आश्रित जीवन के सब नियम विनाश की ओर ले जाते हैं। यह निर्णय करने में कि क्या शुभ और उचित है, मनुष्यों को पूर्वगामियों के अनुभव से मार्गदर्शन प्राप्त करना चाहिए।

ईश्वर और सत्य की खोज के फलस्वरूप साधुजनों और ज्ञानियों ने हमें ज्ञान का जो उत्तराधिकार प्रदान किया है, वही शास्त्र है। मनुष्य-जाति की प्रत्येक पीढ़ी को चाहिए कि वह पहले की पीढ़ियों के अनु-संधान की नींव पर नया भवन खड़ा करे, अन्यथा हम सिसिफस[1] के

---

१. सिसिफस—यूनानी पौराणिक कथाओं का एकमात्र पात्र। इसे नरक में पहाड़ पर पत्थर चढ़ाते रहने का दण्ड दिया गया था। यह जो पत्थर बड़े परिश्रम से चढ़ाता, वह नीचे लुढ़क जाता था और यह उसे फिर से चढ़ाता था। यही क्रम चलता रहता था।—अनु०

समान अनंत काल तक पहाड़ पर पत्थर चढ़ाने के जैसे निष्फल कार्य में लगे रहेंगे।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥ १६-२३

जो मनुष्य शास्त्र विधि को छोड़कर स्वेच्छा से भोगों में लीन होता है, वह परम लक्ष्य के मार्ग पर नहीं चलता और न वह आध्यात्मिक शक्ति अथवा सांसारिक सुख ही प्राप्त कर सकता है।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥ १६-२४

इसलिए कार्य और अकार्य का निर्णय करने में तुझे शास्त्र को प्रमाण मानना चाहिए। शास्त्र-विधि क्या है यह जानकर इस संसार में तुझे कर्म करना चाहिए।

१० : : आदर्श — तप — आहार

(अध्याय १७—श्लोक ३,५-१०, १४-१६, २०—२२)

प्रत्येक मनुष्य अपने कर्मों के परिणाम-स्वरूप विशेष स्वभाव लेकर उत्पन्न होता है। उसी स्वभाव के अनुसार उसकी श्रद्धा का निर्माण होता है, तथापि हम जिस श्रद्धा का पालन विवेकबुद्धि से करते हैं, उसकी भी प्रतिक्रिया हम पर होती है। इसलिए हमें अपने सामने अच्छे आदर्श रखने चाहिए। स्वाभाविक प्रवृत्ति और गृहीत आदर्शों के बीच होनेवाली क्रिया और प्रतिक्रिया निम्नलिखित श्लोकों में स्पष्ट की गई है। इस क्रिया-प्रतिक्रिया में ही उन्नति की आशा निहित है :

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥ १७-३

सब मनुष्यों की श्रद्धा उनके स्वभाव के अनुसार बनती है। मनुष्य श्रद्धामय है। मनुष्य जिस पर श्रद्धा रखता है, वही वह भी है।

हमें न केवल अपना मन सही आदर्शों पर लगाना चाहिए, वरन् अपने सब कामों को भी आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से नियमित करना चाहिए। 'धार्मिक' कर्म—चाहे वह यज्ञ हो, तप हो, उपासना हो, या दान हो—दिखावे या स्वार्थ-साधन के लिए नहीं किया जाना चाहिए। केवल दंभ के कारण या स्वार्थ की आशा से तप करना लाभ-जनक नहीं, उल्टे हानिकारक होता है। अपने शरीर को नष्ट कर देना ही तप नहीं होता।

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो न जनाः ।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥ १७-५

जो लोग दंभ और अहंकार से और काम तथा राग के बल से प्रेरित होकर शास्त्रीय विधि से रहित घोर तप करते हैं—

कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥ १७-६

वे मूढ़जन शरीर के पंचमहाभूत को और उसके अन्दर निवास करने वाले मुझे भी कष्ट देते हैं । ऐसे लोगों को आसुरी निश्चय वाला जान ।

तप कायिक, वाचिक और मानसिक हो सकता है । कायिक तप आर्जव, भक्ति, ब्रह्मचर्य और करुणा से युक्त आचार द्वारा होता है । वाचिक तप सत्यमय, सौम्य और प्रिय वाणी में तथा धार्मिक ग्रन्थों के अध्ययन एवं वाचन में है । मानसिक समत्व और विचारों की पवित्रता उत्पन्न करना मानसिक तप है । तप स्वार्थ के हेतु से रहित होकर और उसे निरपेक्षतः शुभ मानकर करना चाहिए । जब वह लोगों का आदर प्राप्त करने के लिए या दिखावे के उद्देश्य से किया जाता है तब व्यर्थ होता है, और जब दूसरों को हानि पहुँचाने के लिए या केवल हठ से किया जाता है, तब दुष्टतापूर्ण होता है ।

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥ १७-१४

देव, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानी की पूजा, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा—यह शारीरिक तप कहलाता है ।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥ १७-१५

अनुद्वेगकारी, सत्य, प्रिय और हितकार वचन तथा धर्मग्रंथों का अध्ययन और वाचन—यह वाचिक तप कहलाता है ।

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥ १७-१६

मन की शांति, सौम्यता, मौन, आत्मसंयम और विचारशुद्धि—

यह मानसिक तप कहलाता है ।

दान, प्रेरकहेतु के अनुसार, अच्छा, व्यर्थ, या बुरा होता है । हमें आनन्द के साथ दान करना चाहिए, खिन्न होकर नहीं । उसमें हमें कर्त्तव्य का भाव रखना चाहिए, प्रतिफल की आशा नहीं । दान का पुण्य प्राप्त करने का भाव भी उसमें नहीं होना चाहिए । गीता में मनुष्य के कर्मों, कामनाओं, अभिरुचियों और, वास्तव में तो, सभी कुछ को तीन वर्गों में विभाजित किया गया है—पहला, जिसमें सत्य और युक्तता का प्राधान्य होता है, सात्त्विक है; दूसरा, जिसमें कर्म-प्रवृत्ति और काम, क्रोध, आदि विकारों की प्रवलता होती है, राजसिक है; तीसरा और निम्नतम तामसिक है; उसमें अकर्मण्यता का साम्राज्य रहता है ।

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रेच तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥ १७-२०

प्रतिफल मिलने की आशा के बिना, देना कर्त्तव्य है, ऐसा मानकर योग्य देश तथा काल में, योग्य पात्र को जो दान दिया जाता है, वह सात्त्विक दान कहलाता है ।

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥ १७-२१

जो दान बदला पाने के लिए अथवा फल को लक्ष्य करके दिया जाता है और जो खिन्न होकर दिया जाता है, वह राजसिक दान माना जाता है ।

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ १७-२२

देश तथा काल का विचार किये विना, अयोग्य पात्र को अपमान या तिरस्कार से दिया हुआ दान तामसी कहा जाता है ।

हमारे दैनिक आहार का प्रभाव हमारी मनोवृत्ति और चरित्र पर पड़ता है । वह आत्मा के लिए अच्छा और बलवर्धक—सात्त्विक; या शांति को भंग करने वाला, विकारोत्पादक—राजसिक; या पूर्णतः सदोष, मन और बुद्धि की अवनति करने वाला तथा अकर्मण्यता को

बढ़ाने वाला—तामसिक हो सकता है ।

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥ १७-७

मनुष्यों को रुचनेवाला आहार तीन प्रकार का होता है, जैसे यज्ञ, तप, और दान भी । इनका भेद तू सुन ।

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥ १७-८

आयुष्य तथा प्राणशक्ति, शारीरिक बल, आरोग्य, सुख और प्रीति बढ़ानेवाले आहार, जो सुस्वादु हों, पौष्टिक और तृप्तिकारक हों, सात्विक स्वभाव के लोगों को प्रिय होते हैं ।

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्ण रुक्ष विदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ १७-९

राजसी लोग तीखे, खट्टे, खारे, बहुत गर्म, चरपरे, सूखे, और दाहकारक आहारों की इच्छा करते हैं । ये रोग, दुःख और शोक उत्पन्न करने वाले होते हैं ।

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥ १७-१०

जो आहार ताजा नहीं है, जिसका स्वाद नष्ट हो गया है, जो बासा, दुर्गन्धित, जूठा और अपवित्र है, वह तामसिक स्वभाव वाले लोगों को प्रिय होता है ।

११ : : आत्मसमर्पण और ईश्वर की कृपा

(अध्याय ९—श्लोक २२। अध्याय १०—श्लोक ९-११। अध्याय १२—श्लोक ५-७। अध्याय १४—श्लोक २६। अध्याय १८—श्लोक ६२, ६४-६६)

गीता में निराकार और निरपेक्ष ब्रह्म की उपासना की कठिनता को स्वीकार किया गया है; अतएव साधक को सृष्टि के प्रेमपूर्ण शासक के रूप में साकार ब्रह्म की उपासना करने का निर्देश है। उसे सदा स्मरण रखते हुए हमें सब कर्मों में प्रवृत्त होना चाहिए और अपने सब कर्मों को उसकी सेवा तथा उपासना के रूप में उसे समर्पित कर देना चाहिए। अन्ततः उसका प्रसाद ही हमें आत्मसंयम की शक्ति, ज्ञान एवं शांति प्रदान करके और लोभ, संशय, दुर्बलता तथा भ्रांति से हमारी रक्षा करके हमें बचा सकेगा। हिन्दू धर्म का यह स्वरूप मोक्ष का भक्ति-मार्ग कहलाता है, तथापि यह अपने नियत कर्म करने में निःस्वार्थता और अलिप्तता के व्यवहार का विकल्प नहीं, वरन पूरक है। यह प्रश्न ही नहीं किया जा सकता कि ईश्वरीय कृपा की अर्थना और कर्तव्य-पालन में अधिक महत्व किसका है। इनमें से कोई भी एक गीता की शिक्षा का प्राथमिक और दूसरा पूरक अंश माना जा सकता है।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥ ९-२२

जो अनन्य भाव से मेरी उपासना करते हैं और जो इस प्रकार नित्य मुझमें ही रत रहते हैं, उनके योग-क्षेम का भार मैं उठाता हूं।

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयंतः परस्परम्।
कथयंतश्च मां नित्यं तुष्यंति च रमंति च॥ १०-९

वे मुझमें चित्त लगाते हैं, वे मेरे लिए जीवित रहते हैं, वे नित्य मेरा गुणानुवाद करने में और परस्पर मेरे विषय में बोध करने-कराने में आनन्द और परम संतोष प्राप्त करते हैं।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयांति ते॥ १०-१०

मुझमें निरन्तर तन्मय रहनेवाले इन प्रेमी भक्तों को मैं ज्ञान-योग प्रदान करता हूं और उससे वे मुझे पाते हैं।

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥ १०-११

उन पर दया करके उनके हृदय में स्थित मैं ज्ञानरूपी प्रकाशमय दीपक से उनके अज्ञानरूपी अंधकार का नाश करता हूं।

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥ १२-५

जिनका मन अव्यक्त में लगा हुआ है, उनका काम बहुत कठिन है, क्योंकि अव्यक्त को देहधारी कठिनता से ही पा सकता है।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥ १२-६

जो अपने सब कर्म मुझे समर्पित करते हैं, मुझमें परायण हैं और एकनिष्ठा से मेरा ध्यान करते हुए मेरी उपासना करते हैं—

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ।। १२-७

जिनका चित्त इस प्रकार मुझमें ओतप्रोत है उनका जीवन और मृत्यु के संसार-सागर में गोते लगाने से मैं अविलम्ब उद्धार कर देता हूं ।

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते .
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ १४.२६

जो एकनिष्ठ भक्ति से मेरी उपासना करता है वह आनुवंशिक गुणों की मर्यादा को पार कर लेता है और ब्रह्मरूप बनने के योग्य होता है ।

निम्नलिखित श्लोकों में गीता की शिक्षा का निष्कर्ष और उस विषय का अंतिम निर्णय निहित माना जाता है । ईश्वर के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण और उनकी कृपा के आश्रय के संबंध में इससे दृढ़तर आग्रह नहीं हो सकता

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शांति स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ।। १८-६२

सर्वभाव से तू उसकी शरण ले । उसकी कृपा से तू परम शांति और शाश्वत स्थान प्राप्त करेगा ।

सर्व गुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ।। १८-६४

पुनः मेरा सबसे गुह्य परम वचन सुन । तू मुझे प्रिय है, इसलिए मैं तेरे हित के लिए जोर देकर उसे कहता हूं ।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ।। १८-६५

मुझसे लगन लगा, मेरा भक्त बन, मेरे लिए यज्ञ कर, मुझे नमस्कार कर, तू मुझे ही प्राप्त करेगा । यह मेरी सत्य प्रतिज्ञा है । तू मुझे प्रिय है ।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ १८-६६

सब कर्मों का त्याग करके एक मेरी ही शरण ले। शोक मत कर, मैं तुझे सब पापों से मुक्त करूंगा।

ईश्वर के सिवा और किसी का भी आश्रय लेना व्यर्थ है। हमारे पाप कैसे भी हों, यदि उनके लिए हमारे मन में पश्चात्ताप है और अपने-आपको हम ईश्वर की कृपा पर छोड़ देते हैं, तो वह अवश्य हमारा त्राण करेगा।

१२ : : जगत् की एकता

(अध्याय ५—श्लोक १६, १८। अध्याय ६—श्लोक २९-३१। अध्याय ८—श्लोक ९, १०, १२-१४, १८-२०, २२। अध्याय १८—श्लोक २०, ४५-४९)

मुमुक्षु अपने आचार का नियमन और मन का संयमन करके तथा अपने सब कर्मों को परमेश्वर की उपासना के रूप में उसे समर्पित करके यथासमय समस्त सृष्टि की एकता का साक्षात्कार कर सकता है। गीता की शिक्षा के अनुसार, समस्त जीवों के साथ अपना और परमेश्वर के साथ समस्त जीवों का अभेद स्थापित करना ही वह ज्ञान है, जिसकी, आत्मा को अज्ञानान्धकार के आवरण से मुक्त करने के लिए साधना की जानी चाहिए। जो मनुष्य सच्चा ज्ञान प्राप्त कर लेता है, उसकी विकसित दृष्टि से सुसंस्कृत और असंस्कृत, उच्च और नीच तथा एक योनि और दूसरी योनि का भी भेद मिट जाता है। 'कुत्ते का मांस खाने वाला' भी अन्यों के साथ एक हो जाता है।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं तेषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम॥ ५-१६

जब आत्मज्ञान के द्वारा अज्ञान का नाश हो जाता है, तब सूर्य के समान प्रकाशमान ज्ञान परम सत्व का दर्शन कराता है।

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥ ५-१८

विद्वान और विनयवान ब्राह्मण में, गाय में, हाथी में, कुत्ते में और कुत्ते को खानेवाले मनुष्य में ज्ञानी समदृष्टि रखते हैं ।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ ६-२९

योग द्वारा ज्ञानी बना आत्मा अपने को सब भूतों में और सब भूतों को अपने में देखता है । उसकी दृष्टि में सब समान हैं ।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥ ६-३०

जो सबमें मुझको और सबको मुझमें देखता है, उसके लिए मैं सदा उपस्थित रहता हूं और मेरे लिए वह भी सदा उपस्थित है ।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥ ६-३१

जिसने पक्की तरह से एकता का साक्षात्कार कर लिया है और जो मुझे भूतमात्र में रहनेवाले के रूप में भजता है, वह चाहे जैसे बर्तता हुआ भी योगी है और मुझमें ही बर्तता है ।

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥ १८-२०

जब मनुष्य का ज्ञान उसे सब भूतों में अविनाशी एकता का और समस्त विविध रूपों में एक ही 'वस्तु' का दर्शन करने योग्य बनाता है, तब उसे सच्चा ज्ञान समझ ।

गीता आत्मसंयम और सर्वव्यापी एकता की साधना के उच्चतम आदर्शों का प्रतिपादन करती है । वह दार्शनिकों के मनोविनोद-मात्र की

वस्तु नहीं है, वरन् एक ऐसा ग्रंथ है, जिसमें स्त्री-पुरुषों से सच्चा अनुरोध किया गया है कि वे उसकी शिक्षा के अनुसार अपने जीवन को ढालें और ऐसा अविलम्ब करें। गीता की शिक्षा छोटों के लिए भी है और बड़ों के लिए भी; कर्मों में अत्यन्त व्यस्त लोगों के लिए भी है और जीवन-संघर्ष से निवृत्त लोगों के लिए भी। निस्संदेह गीता सब कालों के लिए है; परन्तु अन्य सर्वकालीन धर्मग्रंथों के समान ही, उसके शब्दों को उस देश और काल की सामाजिक व्यवस्था की पीठ-भूमिका के आधार पर पढ़ना चाहिए, जिसमें वह लिखी गई थी। वह आधुनिक आंदोलनों में प्रमाण के रूप में उद्धृत की जाने के लिए नहीं लिखी गई थी, और यदि वह इस उद्देश्य में पूरी नहीं उतरती तो उसकी आलोचना करना न्यायपूर्ण या बुद्धिसंगत न होगा। उसमें जिन तत्वों का प्रतिपादन किया गया है वे मनुष्य की समानता के आधुनिक आन्दोलनों में प्रमाण की भांति सहायता पहुंचाने के लिए यथेष्ट संबल हैं। निम्नलिखित श्लोकों में सब कर्मों की समानता और उदारता का जो आग्रह है उसे जन्मजात उच्च-नीच भेद स्थापित रखने का निमित्त नहीं समझना चाहिए। उसका ठीक वही अर्थ लगाना चाहिए, जो उससे प्रकट होता है। गीता में जाति-प्रथा और जन्मानुसार कर्म को यथावत् स्वीकार कर लिया गया है और उसीके आधार पर सारी शिक्षा का विस्तार हुआ है। इस आधार पर यह नहीं माना जा सकता कि सब कालों के लिए उन प्रथाओं का समर्थन किया गया है। गीता जिसपर जोर देती है वह यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी समाज में नियत स्थिति की प्रतिष्ठा और कर्त्तव्यों का पालन करना चाहिए। वह बताती है कि किसी भी सामाजिक व्यवस्था में विभिन्न वर्गों के लिए नियत किये हुए कर्म वस्तुतः उच्च और निम्न नहीं होते, क्योंकि समाज को कायम रखने के लिए सभी की समान आवश्यकता है। उसके अनुसार, वे सब कर्म उपेक्षा या भ्रम के बिना और निःस्वार्थ सामाजिक सहयोग की भावना से किये जाने चाहिए। इस सामाजिक सहयोग की अपेक्षा चाहे जातिप्रथा के अनुसार की जाय या उसके बदले में स्वीकार की गई अथवा भविष्य में संभव

किसी दूसरी सामाजिक व्यवस्था के आधार पर, प्रत्येक स्थिति में गीता की यह शिक्षा उस पर समान रूप से लागू होती है। कोई काम ऐसा नहीं है जिसके बारे में मनुष्य कह सके—'यह उदात्त और श्रेष्ठ है, सब दोषों से रहित है; इसलिए मैं अपने नियत कर्म की अपेक्षा इसे ही करना पसंद करूंगा।" इस संसार के प्रत्येक कार्य में कुछ-न-कुछ दोष अवश्य दिखलाई पड़ता है; परन्तु एक साधन है—निःस्वार्थ भाव—जिससे सब कुछ शुद्ध होकर पवित्र और उदात्त बन जाता है। कर्म किया जाना चाहिए, और भली भांति किया जाना चाहिए; उसे स्वार्थ-कामना की पूर्ति के लिए नहीं, वरन् सामाजिक जीवन को चलाने के लिए करना चाहिए; सामाजिक सहयोग वास्तव में ईश्वर की उपासना है—यह शिक्षा समाज-संगठन की प्रत्येक प्रणाली पर लागू होती है, चाहे वह अत्यन्त प्राचीन हो या अत्यन्त अर्वाचीन। निस्वार्थ सहयोग के आग्रह और इस तर्क को कि मन के ऐसे भाव से सब कर्म समान और उदात्त हो जाते हैं, किसी विशेष समाज-व्यवस्था का समर्थक समझने की गलती नहीं करनी चाहिए।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धि लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धि यथा विन्दति तच्छृणु ॥ १८-४५

स्वयं अपने कर्त्तव्य में रत रहकर पुरुष संसिद्धि प्राप्त करता है। अपने कर्म में लगा हुआ मनुष्य किस प्रकार सिद्धि प्राप्त करता है, सो तू मुझसे सुन।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धि विन्दति मानवः॥ १८-४६

अपने कर्त्तव्य-कर्मों को करना ही उसकी पूजा है, जिससे सब प्राणियों का आविर्भाव हुआ है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, और इस प्रकार की पूजा से मनुष्य सिद्धि प्राप्त करता है।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम् ॥ १८-४७

अपना कर्त्तव्य असम्मानित होने पर भी दूसरे के कर्म से—भले ही वह अच्छी तरह किया हुआ क्यों न हो —अधिक श्रेष्ठ है । जो अपने स्वभाव के अनुरूप कर्म करता है, उसे पाप नहीं लगता ।

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥ १८-४८

स्वभावतः प्राप्त कर्म सदोष होने पर भी छोड़ना नहीं चाहिए । जिस प्रकार अग्नि के साथ धुएं का संयोग है, उसी प्रकार सब कर्म भी दोषों से आवृत्त हैं ।

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धि परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥ १८-४९

जिसका अन्तस्थ आत्मा, वह कुछ भी करे, आसक्तिरहित रहता है, जिसने मन को भली-भांति जीत लिया है और जो कामनाओं से मुक्त हो गया है, वह इस प्रकार के संन्यास से परम सिद्धि प्राप्त करता है, जो कि कर्म-त्याग का लक्ष्य है ।

मुमुक्षु को जन्म, जीवन, मृत्यु और विलोप के सब दृश्यों के मूल में निरपेक्ष और सनातन परमात्मा का मनन करना चाहिए । जिस प्रकार बच्चे को दिन और रात्रि के चक्र में जीवन प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दिखलाई पड़ता है , ठीक उसी प्रकार सृष्टि और संहार भी प्रत्यक्षता और अप्रत्यक्षता मात्र है । सृष्टि और संहार ब्रह्म का केवल जागना और सोना, दिन और रात्रि हैं । सच्चा ज्ञान प्राप्त करने पर मनुष्य जगत् की परम एकता की अनुभूति करता है । इसी परम एकता का ध्यान और अनुभूति योग का चरम लक्ष्य है ।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥ ८-१४

जो चित्त को अन्यत्र कहीं रखे बिना नित्य मेरा ही स्मरण करता है, जो नित्य युक्त रहता है, वह मुझे सरलता से पाता है।

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥ ८-१८

दिन आरम्भ होने पर सब अव्यक्त में से व्यक्त होते हैं। रात होने पर वे पुनः अव्यक्त में विलीन हो जाते हैं।

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥ ८-१९

प्राणियों का वह समस्त समुदाय इस प्रकार बरबस पैदा होकर रात होने पर विलीन हो जाता है और दिन होने पर प्रकट होता है।

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥ ८-२०

इस अव्यक्त से दरे दूसरा सनातन अव्यक्त भाव है। समस्त भूतों के नष्ट होने पर भी वह नष्ट नहीं होता।

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥ ८-२२

वह परम पुरुष, जिसके अन्तर्गत सर्व भूत स्थित हैं, जिससे यह सारा जगत व्याप्त है, अनन्य भक्ति से प्राप्त हो सकता है।

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥ ८-९

जो मनुष्य सर्वज्ञ, पुरातन, अणु से भी सूक्ष्म, सबके पालक अचिन्त्य-स्वरूप, सूर्य के समान तेजस्वी, अन्धकार से परे परम पुरुष का स्मरण करता है—

प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ ८-१०

वह अन्तकाल में स्थिर-चित्त भक्तिमय होकर, अपने योगवल से प्राण को आकर्षित और भृकुटियों के बीच में स्थापित करके, परमात्मा में विलीन हो जाता है ।

१३ : : अद्वैत और गीता का अनुशासन

अद्वैत मत के संबंध में केवल सुना हुआ या ऊपरी ज्ञान रखनेवाले लोग यहां एक प्रश्न उठा सकते हैं। यदि आत्मा का पृथक अस्तित्व मायाजन्य है और केवल ईश्वर का ही अस्तित्व सत्य है तो तथाकथित मुक्ति के लिए यह कष्टमय प्रयत्न क्यों किया जाय ? हम केवल यह सत्य जानकर संतुष्ट क्यों न रहें कि केवल ईश्वर का अस्तित्व है ? यदि माया केवल दृष्टि का विषय होती तो वह आवश्यक हो सकता था; परन्तु माया ने अपना प्रभाव न केवल हमारी आंखों पर, वरन् प्रत्येक इन्द्रिय और हमारे मन पर भी डाला है और आत्मा में आसक्ति, विकार और संघर्ष उत्पन्न किया है। केवल आंखों को मलने से काम न चलेगा। हमारे जीवन के अणु-अणु को सत्य के प्रति जागृत होना पड़ेगा; क्योंकि माया हमारे अन्तरतम तक प्रविष्ट है। इसके अतिरिक्त, इतना जान लेना ही पर्याप्त नहीं है कि हमें जागृत होना चाहिए। प्रत्यक्ष जागृत होना आवश्यक है। हमारी यह यथार्थ और पूर्ण जागृति ही मुक्ति कहलाती है। इसे चाहे माया से जागृत होने के इस उपाय से प्राप्त किया जाय, या आत्मा का सच्चा और पृथक अस्तित्व मानकर आत्मशुद्धि तथा आत्मा की मुक्ति का क्रम कहा जाय—दोनों अवस्थाओं में साधना-पद्धति एक ही है।

विषय-भोगों और उनमें आसक्ति से माया का प्रभाव दृढ़ होता तथा बढ़ता है। माया को दूर करने के लिए उनका त्याग करना आव-

श्यक है। यदि मायाजन्य अज्ञान न हो, तो गुरु से प्राप्त यह ज्ञान कि ईश्वर और आत्मा एक ही है, मुक्ति या जागृति के क्रम में सहायक हो सकता है; परन्तु केवल उतना ही पर्याप्त न होगा। उसके लिए सच्चा वैयक्तिक प्रयत्न आवश्यक है। जैसे-जैसे हम सच्चे ज्ञान की ओर अग्रसर होते हैं वैसे-वैसे अपने आपको विकारों और आसक्तियों से मुक्त करने के इन वैयक्तिक प्रयत्नों की आवश्यकता घटती जाती है, और जिस हद तक हम उस लक्ष्य की ओर पहुंचते हैं, उसके प्रमाण में वह कम हो जाती है।

चाहे जीवात्मा को माया का परिणाम माना जाय—जबकि उसकी मुक्ति का साधन व्यक्तिगत अस्तित्व की कल्पना उत्पन्न करने-वाले भ्रम का निवारण करना होगा, चाहे उसे पृथक, आदिरहित, स्वतन्त्र और पंचभूतों से आवृत्त माना जाय—जबकि उसे ब्रह्मप्राप्ति के योग्य बनने की साधना द्वारा अपनी मुक्ति का प्रयत्न करना पड़ेगा, दोनों अवस्थाओं में साधन-क्रम एक ही है। यदि आत्मा का पृथक अस्तित्व भ्रम है, तो विषयभोग के प्रति आसक्ति और काम, लोभ तथा क्रोध उस भ्रम को बढ़ाने वाले हैं और इनका निवारण होना ही चाहिए। सच्ची भ्रमनिवृत्ति से पाप और आसक्तियों का अन्त आप-ही-आप हो जायगा। दूसरी ओर पवित्र जीवन, निःस्वार्थ कर्त्तव्य-पालन और मन के ममत्व से छिपे हुए सत्य का साक्षात्कार होता है। जहां आसक्तियों का अन्त नहीं हुआ, वहां, हम मान सकते हैं कि, ज्ञान सच्चा नहीं है; सिद्धांतों का प्रभाषण-मात्र हो रहा है और आन्तरिक भ्रम बढ़ रहा है, घटता नहीं। द्वैतवाद के अनुसार भी, सच्चे ज्ञान की प्राप्ति और माया का निवारण उसी उपाय से हो सकता है, जो आत्मा का पृथक अस्तित्व मानकर कर्मबन्धनों से मुक्त होने के लिए बताया गया है। इस प्रकार जीवात्मा के मूल स्वभाव के संबंध में अनेक मत-मतान्तर होते हुए भी, गीता सभी लोगों के लिए एक जीवन-ग्रन्थ है।

१४ : : भगवद्दर्शन

(अध्याय ११—श्लोक ९, १२, १३, १५-१८, ३८-४०, ४३, ४४)

गीता के ग्यारहवें अध्याय में एक चमत्कार का वर्णन है। उसमें अर्जुन ईश्वर के उस सर्वव्यापी स्वरूप के दर्शन करने में समर्थ होता है, जिसके समक्ष अच्छाई और बुराई, सुख और दुःख, प्रकाश और अन्धकार इत्यादि के द्वन्द्व विलीन हो जाते हैं। विश्वव्यापी के इस विराट स्वरूप का दर्शन अर्जुन को चौंधिया देनेवाला था और उसने जितना देखा, वह भी दृष्टि के लिए असह्य था। यथार्थ में, अर्जुन को उस अद्वैत विश्वरूप के दर्शन के लिए; जो सापेक्ष और आंशिक रूप के परे है, दिव्य दृष्टि दी गई थी, इसका अर्थ यह है कि जब योगी पवित्र और समर्पित जीवन, ममत्व-भाव की साधना और ध्यान के द्वारा अपने-आपको विश्व में मिला देता है और समस्त सृष्टि की परम एकता का अनुभव कर लेता है, तब उसका मुमुक्षु आत्मा सर्वव्यापी ईश्वर की एक झलक पा सकता है। संजय, जिसने अंधे महाराज धृतराष्ट्र को महाभारत का सारा वर्णन सुनाया था, ने अर्जुन के समक्ष प्रकट किये गए विराट रूप का वर्णन किया है। वह परब्रह्म का—उस पूर्ण का ही—स्वरूप था, जो समस्त सृष्टि को व्याप्त किये है और जिसमें अच्छाई तथा बुराई, सुन्दर तथा असुन्दर, मधुर तथा भयानक और सुखद तथा दुःखद के द्वन्द्व भी समाये हुए हैं।

संजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम्॥ ११-९

संजय ने कहा :

हे राजन ! ऐसा कहकर महायोगेश्वर हरि ने पार्थ को अपना परम ईश्वरीय रूप दिखाया।

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥ ११-१२

यदि आकाश में सहस्र सूर्यों का तेज एक साथ प्रकाशित हो सकता तो वह उस महान रूप के तेज के जैसा कदाचित् होता।

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥ ११-१३

तब उस देवाधिदेव के शरीर में पांडव ने अनेक प्रकार से विभक्त हुआ समूचा जगत् एक रूप में विद्यमान देखा।

जब यह महान रूप प्रकट हुआ तो अर्जुन स्तुति करने लगा—

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वास्तथा भूतविशेषसंघान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ मृषीश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥ ११-१५

हे देव, आपकी देह में मैं देवताओं को, भिन्न-भिन्न प्रकार के सब प्राणियों के समुदायों को, कमलासन पर विराजमान प्रभु ब्रह्मा को, सब ऋषियों को और सर्प-देवताओं को देखता हूं।

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वं सर्वतोऽनन्तरूपम् ।
नान्तं न मध्यं नं पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥ ११-१६

मैं आपको सर्वत्र अनेक हाथ, उदर, मुख और नेत्रयुक्त अनन्त रूप वाला देखता हूं। हे विश्वेश्वर, हे विश्वरूप, मैं आपका आदि, मध्य और अन्त नहीं देखता।

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्तात्दीतपनलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥ ११-१७

अपरिमित, जगमगाते हुए तेज के पुंज, सूर्य या प्रज्वलित अग्नि के समान, सभी दिशाओं में देदीप्यमान, मुकुट, गदा और चक्र के साथ आपको मैं देख रहा हूं।

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥ ११-१८

आप अक्षर, परात्पर एवं ज्ञातव्य हैं। आप इस जगत् के परम निधान हैं। आप शाश्वत प्रकृति के सनातन संरक्षक हैं।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्ताऽसि वेद्यं च परं च धामं त्वया ततं विश्वमनन्तरूपं ॥ ११-३८

आप आदि देव हैं; आप पुरातन पुरुष हैं; आप इस विश्व के परम आश्रयस्थान हैं; आप जाननेवाले और आप ही जानने योग्य हैं; आप परम धाम हैं; हे अनन्त रूप! इस जगत् में आप व्याप्त हो रहे हैं।

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशांकः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥ ११-३९

आप वायु, यम, अग्नि, वरुण और चन्द्र हैं। आप ही प्रजापति, प्रपितामह हैं; आपको नमस्कार! सहस्र नमस्कार! मैं बार-बार आपको नमस्कार करता हूं।

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥ ११-४०

मैं आपको आगे से नमस्कार करता हूं, पीछे से नमस्कार करता हूं; हे सर्व! मैं आपको सब दिशाओं से नमस्कार करता हूं। आपका वीर्य अनन्त है, आपकी शक्ति अपार है। आपमें सबकी पूर्ति होती है। आप स्वयं सब कुछ हैं।

पिताऽसि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
नत्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभावः ॥ ११-४३

आप स्थावर-जंगम जगत के पिता हैं। आप उसके पूज्य और श्रेष्ठतम गुरु हैं। आपके समान कोई नहीं है, फिर आपसे अधिक तो कौन हो सकता है! तीनों लोकों में आपसे सामर्थ्य का जोड़ नहीं है।

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्॥ ११-४४

इसलिए मैं आपको साष्टांग नमस्कार करता हूं। हे देव, मैं आपसे प्रसन्न होने की प्रार्थना करता हूं। जिस तरह पिता पुत्र को, सखा सखा को और प्रेमी अपनी प्रिया को सहन करता है, वैसे ही आप मुझे सहन करें।

१५ : : उपसंहार

अब हम अपने अध्ययन का उपसंहार करेंगे।

हम अपने आत्मा के पूर्व-कर्मों और आसक्तियों के फलस्वरूप शरीर और मन के कतिपय गुणों और क्षमताओं के साथ उत्पन्न होते हैं। ये हमें दृढ़ता से जकड़े रहते हैं। परन्तु हमें अपने-आपको मुक्त करने की स्वतन्त्रता है। आत्मा के वर्तमान शरीरगत कर्म उसके भविष्य का निर्धारण करते हैं, चाहे वह कर्म-बंधनों से आंशिक या पूर्ण मुक्ति हो या और भी अधिक बंधन हो। पूर्व-बंधन कितना भी बड़ा क्यों न हो, परमात्मा की कृपा से यह छिन्न हो सकता है। ऐसा केवल दैवी कृपा की अन्तर्हित शक्ति के कारण नहीं, वरन् इसलिए भी होता है कि उस कृपा को प्राप्त करने के आत्मा के प्रयत्नों में, मन की दूसरी गति-विधियों के समान ही, कर्म-शक्ति विद्यमान रहती है। गीता सिखाती है कि ये प्रयत्न कौन से हों। उसमें इन्हें 'योग' कहा गया है।

गीता का योग एक प्रगतिशील और बहुमुखी साधना है। साधना के प्रयत्न अथवा असफलता से कोई हानि नहीं होती, क्योंकि प्रत्येक सच्चा प्रयत्न स्वयं लाभदायी होता है। योग के अंग निम्नलिखित हैं :

(१) इंद्रियों पर विजय और आचार की पवित्रता तथा जीवन के साधारण क्रम, उपासना, कर्म, आहार और निद्रा आदि का नियमन;

(२) स्वाभाविक योग्यता और समाज में अपनी स्थिति के अनुरूप अपने नियत कर्त्तव्यों का निःस्वार्थ भाव से तथा उतनी ही सावधानी से पालन;

(३) सच्चाई, अलिप्तता और सफलता, कठिनता, असफलता और

ग्रानन्द, शोक या निराशा के कारणों में समभाव रखने की साधना;

(४) मन की प्रवृत्तियों पर सतर्कतापूर्ण नियंत्रण और उसे अक्षुब्ध करनेवाले विकारों—काम, क्रोध और लोभ पर विजय;

(५) शांत, एकाग्रचित्त ध्यान के लिए समय-समय पर अन्तर्मुख होना; और

(६) ईश्वर की कृपा के प्रति आत्मसमर्पण।

योग की इन प्रक्रियाओं में से प्रत्येक पर अलग-अलग जोर और प्रत्येक को अलग-अलग नाम दिया जा सकता है—जैसे, सांख्ययोग, कर्मयोग, ज्ञानयोग, संन्यासयोग, अध्यात्मयोग या भक्तियोग। परन्तु व्यवहार में ये सब परस्पर सम्बद्ध तथा अविलग हैं और इसलिए गीता में इन सबको मिलाकर एक समन्वित रूप में प्रस्तुत किया गया है।

संभव है, इन पृष्ठों के पाठक कहें—गीता का आदर्श अच्छा है, परन्तु वह अव्यवहार्य है; साधारण मनुष्य उसे पूर्ण करने की आशा हीं नहीं कर सकते। तब, इस तत्त्वप्रधान जगती के मनुष्यों के लिए उसका क्या उपयोग ?

यह प्रश्न केवल गीता की शिक्षा के संबंध में ही नहीं, संसार के समस्त महान धर्मों के संबंध में उठाया जा सकता है। सब धर्मों और सब धर्म ग्रन्थों में ऐसे ही आदर्श प्रतिपादित किये गए हैं, जो इन सूखे व्यावहारिक संसार में पूर्ण नहीं हो सकते। उदाहरण के लिए, कौन कह सकता है कि ईसा को परमेश्वर मानने वाले ईसाई उनके जीवन और शिक्षाओं का सचाई के साथ और पूर्णतः अनुसरण कर सकते हैं ? यही बात कुरान के और बौद्ध-शिक्षाओं के संबंध में भी लागू है। फिर भी यह सत्य है कि इनमें से प्रत्येक धर्म ने न केवल महापुरुषों के हृदयों को उद्वेलित किया है और उनकी आत्माओं को बल प्रदान किया है, वरन वह करोड़ों साधारण मर्त्यों का दैनिक पाथेय है, जिसके बिना वे अन्य पशुओं के समान होते।

बाइबिल, कुरान और गीता दीपकों के समान हैं, जिनसे अंधकार में हमारा पथ प्रकाशित होता है। दीपक हाथ में होने पर भी हम अपनी

ही छाया मार्ग पर डालते रहते हैं। इसी प्रकार हमारे पास धर्मग्रन्थों की शिक्षा का प्रकाश होने पर भी प्रत्येक आक्रमणकारी लोभ, संशय, भय और कठिनता अपनी काली छाया फैलाती रहती है और हमारा मार्ग प्रकाश तथा अंधकार से चित्र-विचित्र हो जाता है। फिर भी दीपक को दृढ़ता से पकड़े हुए बहुत-कुछ कुशलता से चल सकते हैं। यदि हम प्रकाश को बुझ जाने देंगे तो मन में भटक जायेंगे। किसी पुस्तक को प्रमाण रूप स्वीकार करनेवाला प्रत्येक व्यक्ति उसके सब आदर्शों का पालन नहीं कर सकता, परन्तु यदि प्रत्येक व्यक्ति प्रयत्न करे तो उन आदर्शों की परिधि में समाज का निर्माण हो जायगा। जब सारा राष्ट्र कतिपय आदर्शों की पूजा करने लगता है तो जीवन में आचार के निश्चित मानदंडों का प्रादुर्भाव होता है, जिनसे मनुष्य पशु बनने से बचते हैं और एक सूत्र में बंधे रहते हैं। हम पूर्ण नहीं बन सकते, इस-लिए अंधकार में मार्ग देखने के लिए दीपक को दृढ़ता से नहीं पकड़ेंगे, यह उचित आपत्ति नहीं हो सकती। धर्म की सहायता से मनुष्य, बहुधा गलतियाँ करते हुए भी मनुष्य के समान रहते हैं। क्या शारीरिक आरोग्य के नियमों का भी पूर्ण पालन असंभव नहीं है? उन्हें तो असाध्य नियमों की माला और पूर्ण बनने की सलाह मानकर कोई छोड़ देने का विचार नहीं करता। उलटे, बुद्धिमान स्त्री-पुरुष शक्तिभर उनके पालन का प्रयत्न करते और उनसे लाभ उठाते हैं। आत्मा की रक्षा और संभाल के संबंध में भी यही होना चाहिए।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥ २-४०

प्रयत्न के नाश का जैसा इसमें कुछ नहीं है, न साधना में त्रुटि के कारण उलटे परिणाम का भय ही है। इस धर्म का थोड़ा-सा पालन भी महाभय से बचा लेता है।

□□

उद्धृत श्लोकों की निर्देशिका

'मंडल' द्वारा प्रकाशित लेखक का साहित्य

□

१. महाभारत कथा
२. दशरथनंदन श्रीराम
३. राजाजी की लघु कथाएं
४. दक्षिण की सरस्वती
५. आत्मचिन्तन
६. कुब्जा सुन्दरी
७. दुखी दुनिया
८. वेदान्त
९. रामकृष्ण उपनिषद्
१०. भजगोविन्दम्
११. भगवद्गीता

□□